भगवान् महावीर की २५०० वीं निर्वाण-तिथि के अवसर पर हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार डा० रामकुमार वर्मा ने 'जय वर्धमान' नाटक का प्रणयन कर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। महावीर स्वामी आज देश, काल, जाति और सम्प्रदाय की संकीर्ण सीमाओं में आबद्ध न रहकर विश्व-विभूति बन गये हैं। अहिंसा सत्य, अपरिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह, समता, ममता आदि का उपदेश आज जैन समाज की सम्पत्ति न होकर मानव मात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाला प्रकाश-स्तम्भ बन गया है।

'जय वर्धमान' नाटक के पाँच अंकों में इन्हीं शाश्वत मूल्यों को नाट्य-संवाद द्वारा मुखरित करने का सफल प्रयास है। लेखक ने भगवान् महावीर के जिन जीवन-प्रसंगों का चयन किया है उनकी आधार-भूमि जैन ग्रन्थ तथा जैन शास्त्र हैं जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। सिद्ध नाटककार होने के नाते डा० वर्मा ने मंचीय तत्त्वों को दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। हमारा विश्वास है कि यह नाटक भगवान् महावीर की विपुल गुण-राशि में से सत्य, शिव और सुन्दर के दो-चार कण पाठक और प्रेक्षक को भेंट करने में अवश्य सफल होगा। अनन्त पारावार को समेटने की स्पृहा की अपेक्षा श्रद्धापूर्वक अंजलि में संजोये नैवेद्य के छींटे क्या कम महत्त्वपूर्ण हैं? विनयावनत वन्दना का एक स्वर समस्त व्योम को गुंजित करने की शक्ति रखता है।

वीतराग वर्धमान की प्रशस्ति न तो इस नाटक का लक्ष्य है और न लेखक को काम्य ही। भगवान् वर्धमान की जय-जयकार के समय केवल विनीत प्रणाम निवेदित करना ही नाटककार की आस्था का परिचायक है।

●
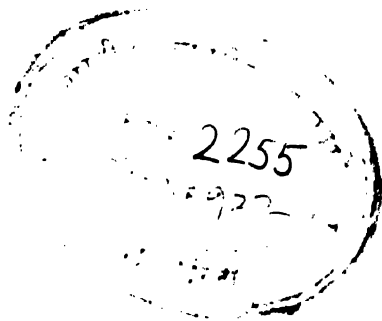
जय वर्धमान

जय वर्धमान

(नाटक)

डा० रामकुमार वर्मा

भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ

प्रकाशक :
भारतीय साहित्य प्रकाशन
२०८-ए, वेस्ट एण्ड रोड,
मेरठ-१

प्रथम संस्करण,
दीपावली, १९७४
मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :
प्रभात प्रेस,
मेरठ-२

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते
न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जयंतो
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू॥

(दशवैकालिक १०–१६)

(जिसे जाति का अभिमान नहीं है, रूप का अभिमान नहीं है, लाभ का अभिमान नहीं है, ज्ञान का अभिमान नहीं है, जिसने सब प्रकार के मद छोड़ दिये हैं, और जो धर्म के ध्यान में निरत है, वही भिक्षु है।)

अपनी ओर से

महावीर वर्धमान की पुण्य तिथि पर मेरा यह नाटक प्रकाशित होने जा रहा है। महावीर वास्तव में इतने कष्ट-सहिष्णु और लोक-कल्याण के क्रियाशील क्रान्तिकारी थे कि उनसे किसी भी महापुरुष की तुलना नहीं की जा सकती। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य जैसे महान् व्रतों से उन्होंने मानव-जीवन को वास्तविक संबोधि प्रदान की। एक ओर तो संसार के चरम आकर्षणों से विरक्ति और दूसरी ओर सत्य और अहिंसा के लिए कठोरतम कष्ट सहन करने की क्षमता अन्य किस साधक में संभव हो सकी है? मानवतावादी दृष्टिकोण उनके समक्ष इतना प्रखर था कि उसमें वर्गवाद और जातिवाद के लिए कोई स्थान ही नहीं था। विचार-समन्वय से सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ करने का दृष्टिकोण उनके सामने था :

मनुष्य जातिरेकैव जाति नामोदयोद्भवा।
वृत्ति भेदात् हितत् भेदाः चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥

(अर्थात् मनुष्य-जाति एक ही है और यह जाति-नाम कर्म के कारण ही उद्भव होता है। वृत्ति-भेद से ही जाति के चार भेद (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) माने जाते हैं।)

उत्तराध्ययन में उल्लेख है :

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

(अर्थात् कर्मों से ही मनुष्य ब्राह्मण होता है, कर्मों से ही क्षत्रिय, कर्मों से ही वैश्य और कर्मों से ही वह शूद्र होता है।)

भगवान् महावीर के चरित्र में मानवता के समस्त गुण एकत्र हैं। उनके जीवन की घटनाएँ इतनी विविधिता और विषमता लिये हुए हैं कि उन सभी का परिगणन नाटक जैसी सीमित और संक्षिप्त विधा में संभव नहीं है। फिर भी उन घटनाओं को जिनसे भगवान् महावीर की वैचारिक शृंखला संयोजित होती है, इस नाटक में सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है। इस भाँति घटनाओं की अपेक्षा मनोविज्ञान की भंगिमाओं को उभारने का अवसर अधिक मिल गया है। भगवान् महावीर का चरित्र तो अपने अखंड व्रत में स्थिर (Static) है किन्तु उनके व्यक्तित्व से संघर्ष करने के लिए जो विषम और विपरीत घटनाएँ (Dynamic) सामने आती हैं उनसे विरोधी पात्रों और घटनाओं के अन्तर्पट उद्घाटित होते हैं। शृंगार के आक्रमण से वैराग्य कितना स्थिर और अटल है, इसके रूप और प्रतिरूप भी सामने आ गये हैं। इस नाटक के लिखने में मुझ से जितना शोध-कार्य संभव हो सकता था, वह मैंने करने का प्रयत्न किया है।

यदि मेरे नाटक 'जय वर्धमान' से हमारे देश के राष्ट्रीय और मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रश्रय मिलेगा, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

साकेत

इलाहाबाद—२

दीपावली, १९७४

रामकुमार वर्मा

स्मृति-बिन्दु

प्रिय भाई भागचन्द जैन,

तुम्हें याद होगा जब हम लोग नरसिंहपुर (म० प्र०) के मिशन हाई स्कूल में नाइन्थ क्लास में पढ़ते थे, तब कंदेली में बने हुए दिगम्बर जैन मन्दिर जाया करते थे। तुम वर्धमान महावीर जी के चरणों में फूल चढ़ाते हुए कुछ कहते जाते थे और मैं महावीर स्वामी के सौम्य मुख-मंडल की ओर टकटकी लगा कर देखता रहता था। कुछ समझता तो था नहीं, बस महावीर स्वामी के प्रति अपनी श्रद्धा अवश्य समर्पित करता था। जब कालेज में पहुँचा तो कुछ समझने योग्य हुआ। तब नरसिंहपुर में श्री जमुना प्रसाद जैन सब-जज होकर आये थे। गर्मी की छुट्टियों में मैं नरसिंहपुर जाता और सब-जज साहब के साथ टैनिस खेलता। थक जाने के बाद उन्हीं के साथ दिगम्बर जैन मन्दिर जाता। हम लोग महावीर स्वामी को प्रणाम करते। वहाँ से निकलने के बाद वे मुझे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के तत्त्व समझाते और वर्धमान महावीर को विश्व का महामानव निरूपित करते। सुबह जब तुम पूजा कर लेते थे तब मैं तुम्हारे सामने श्री जमुना प्रसाद जैन जी से सुनी हुई बातें दुहराता था।

इलाहाबाद यूनीवर्सिटी में आया और साथ ही स्वर्गीय राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन के सम्पर्क में। उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के परीक्षा-मंत्री का कार्य-भार मुझे सौंपा। उस समय श्री रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को छोड़ कर हिन्दी में विद्यार्थियों के लिए कोई आलोचनात्मक इतिहास नहीं था। उन्होंने मुझे आदेश दिया कि मैं 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखूं। मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर हिन्दी साहित्य के इतिहास का गहराई से अध्ययन करना आरंभ किया। अध्ययन करते हुए मुझे कुतूहल और आश्चर्य हुआ कि हिन्दी साहित्य के आदि काल का ७५ प्रतिशत साहित्य जैन आचार्यों, मुनियों और कवियों द्वारा परवर्ती अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी में लिखा गया है। फलतः, मेरी

श्रद्धा जैन धर्म और जैन दर्शन की ओर स्वाभाविक रूप से अग्रसर हुई। मैंने अपने इतिहास में जैन धर्म और जैन दर्शन की विस्तार पूर्वक व्याख्या की।

कुछ वर्षों बाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय में हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह, संरक्षण, सम्पादन और प्रकाशन का कार्य भी आरम्भ किया गया। सम्मेलन ने देश के विविध अंचलों में बिखरे ग्रन्थ-रत्नों को संग्रह करने और उन्हें शोधार्थी विद्वानों एवं अध्येताओं को सुलभ करने के उद्देश्य से इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्य को हाथ में लिया। विविध राज्यों से पांडुलिपियाँ प्राप्त होने लगीं। सब से अधिक पांडुलिपियाँ ग्वालियर (म० प्र०) से प्राप्त हुईं। वहाँ के सम्भ्रान्त नागरिक श्री सूरजराज धारीवाल ने परिश्रम पूर्वक विपुल धन व्यय करके जो बृहत् और दुर्लभ पांडुलिपियों का संग्रह किया था, वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भेंट-स्वरूप प्रदान कर दिया। यह संग्रह धारीवाल दंपति के नाम से 'सूरज-सुभद्रा कक्ष' में व्यवस्थित किया गया। इस बृहत् ग्रन्थ-संग्रह का विवरण प्रस्तुत करने के लिए शिक्षा-मंत्रालय (भारत सरकार) तथा साहित्य सम्मेलन ने मुझे आदेश दिया और एक वर्ष तक निरंतर कार्य करते हुए मैंने 'हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की विवरणात्मक सूची' तैयार की। यह सूची शिक्षा-मंत्रालय की वित्तीय सहायता से 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की ओर से प्रकाशित की गई।

इस विवरणात्मक सूची में हस्तलिखित ग्रन्थों का सम्पूर्ण योग २८०२ है। इनमें जैन अध्यात्म के ७७, तंत्र-मंत्र के ६, जैन तीर्थों के २८, नीति-उपदेश के १६, प्रश्नोत्तरी के १२, पूजा के ५०, आरती के ६, नमस्कार के ४, वंदना के ६, विनती के ६, व्रत माहात्म्य के २४, श्रावकाचार एवं मनोरथ के ७३, सिझाय के ६६, तीर्थ-स्तवन के २२, तीर्थंकर-स्तवन के २३८, स्तुति के ४४, निसाणी के ७, और स्तोत्र के १३ ग्रन्थ मिले। इनके अतिरिक्त जैन दर्शन के ७२, जैन साहित्य के १११, गीतों के १२, बारामासा और फाग के ८, तथा स्फुट काव्य के ६८ ग्रन्थ प्राप्त हुए। इस भाँति २८०२ ग्रन्थों में १००६ ग्रन्थ तो जैन अध्यात्म और दर्शन पर ही हैं। इस बृहत् साहित्य का विवरण लिखने में सचमुच ही मैं जैन धर्म के मानवतावादी दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रभावित हुआ।

'अध्यात्म' और 'सिझाय' में बड़ी सुन्दर-सुन्दर उपदेशात्मक कथाएँ हैं। तुम ऊपर के आँकड़ों को पढ़ कर थक गये होगे, इसलिए अध्यात्म के अन्तर्गत कुछ कहानियाँ सुनो। नीचे लिखी कहानी 'नवकार जाप महिमा' के सम्बन्ध में है। सुनो :

एक श्रावक की एक पत्नी थी पर उसने अन्य एक स्त्री को भी पत्नी बना लिया। दूसरी पत्नी पहली से ईर्ष्या करती थी। एक दिन उसने घड़े में सर्प देखा। उसने पहली पत्नी अर्थात् अपनी सौत से कहा कि उस घड़े से सामान निकाल लाओ। दूसरी स्त्री ने देखा कि उस घड़े में सर्प है। उसने 'नवकार मंत्र' का जप किया और घड़े में हाथ डाला। वह सर्प फूल की माला में परिवर्तित हो गया।

'रत्नकुमार सिझाय' में एक कथा है :

रत्नकुमार का विवाह एक सुन्दरी से हुआ किन्तु १६ वर्ष की आयु में ही उसने वैराग्य लेकर जैन श्रावक धर्म को अपना लिया। उसकी पत्नी अत्यन्त संयम के साथ अपने सास-ससुर के संरक्षण में अपना जीवन व्यतीत करती रही। युवावस्था में ही इस प्रकार विरक्ति और संयम धारण करना वास्तव में सराहनीय है।

महावीर वर्धमान का विवाह हुआ था या नहीं, इस पर मत-भेद है। दिगम्बर साहित्य में उन्हें बाल ब्रह्मचारी कहा गया है पर श्वेताम्बर साहित्य में उनका विवाह राजपुत्री यशोदा के साथ हुआ। किन्तु महावीर वर्धमान का यथार्थ जीवन गृह-त्याग के बाद ही आरम्भ होता है, अतः विवाह की बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। यदि श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार उनका विवाह हुआ भी हो और उन्होंने १० वर्ष बाद वैराग्य ले लिया तो उनकी पत्नी यशोदा का जीवन भी विरक्ति और संयम से परिपूर्ण समझा जाना चाहिए। १८ वें तीर्थंकर स्वामी नेमिनाथ और रमा स्वरूपा राजमती के विवाह के उल्लेख ने यदि विवाह की संभावनाओं को प्रखर कर दिया तो आश्चर्य ही क्या ! संयम और नियम की बात तो जैन साहित्य में सर्वोपरि है। इस सन्दर्भ में विजय श्रेष्ठ सिझाय में जिणदास श्रावक की कथा उल्लेखनीय है :

कच्छ देश में विजय नाम का एक सेठ रहता था। वह जैन श्रावक था। उसने प्रतिज्ञा की थी कि कृष्ण पक्ष में वह किसी प्रकार का भोग नहीं करेगा। उसका विवाह विजया नाम की सुन्दरी से हुआ। स्वयं विजया ने दूसरा संकल्प लिया था कि वह शुक्ल पक्ष में भोगों से दूर रहेगी। इस प्रकार उनके दाम्पत्य जीवन में विचित्र समस्या उप्पन्न हुई। किन्तु दोनों ने अपना व्रत आजीवन निभाया और उन्हें श्रेष्ठ श्रावक की पदवी प्राप्त हुई।

महावीर वर्धमान की स्तुति और महिमा के मुझे अनेक ग्रन्थ प्राप्त हुए। उनके अतवरण मे पृथ्वी पाप के बोझ से हलकी हुई और मानव जाति के कष्टों का निवारण हुआ। उनके जीवनगत आदर्शों से मोक्ष का पथ प्रशस्त हुआ। 'महावीर राग माला' में वर्धमान महावीर का जीवन-वृत्त स्तुति सहित ३६ रागों में वर्णित है। जैन कवि मुनिपाल और समय सुन्दर ने वर्धमान महावीर के पारण के सम्बन्ध में एक सुन्दर कथा कही है :

चातुर्मासिक समाप्ति पर श्री महावीर स्वामी का पारण कराने के लिए सेठ जीरण प्रातः से संध्या तक प्रतीक्षा करता रहा। स्वामी महावीर किसी दूसरे सेठ पूरण के यहां पारण कर लेते हैं, फिर भी जीरण के चित्त में किसी प्रकार का कलुष उत्पन्न नहीं होता। अन्त में स्वामी महावीर उसे ही सर्वश्रेष्ठ श्रावक घोषित करते हैं।

वर्धमान महावीर के सम्बन्ध में मेरे पास इतनी प्रचुर सामग्री है कि उसके आधार पर वर्धमान महावीर के चरित्र और जीवन-वृत्त पर एक बृहत् ग्रन्थ लिखा जा सकता है किन्तु नाटकीय विधा रुचिकर होने से मैंने वर्धमान महावीर के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर एक नाटक ही लिख दिया है। तुमने बाल्यकाल में ही स्वामी महावीर के प्रति मेरे मन में श्रद्धा का बीज वपन कर दिया था, इसलिए इस नाटक को तुम्हें ही समर्पित कर रहा हूँ। आशा है, तुम अपने बाल्यकाल के इस मित्र की यह पवित्र भेंट स्वीकार करोगे।

तुम्हारा ही—
रामकुमार वर्मा

अपने बाल्य-बन्धु

श्री भागचन्द जैन

को

सस्नेह समर्पित

—कुमार भैया

श्रीमती रमा जैन

श्री लक्ष्मीचंद जैन

श्री जयकुमार 'जलज'

को सप्रेम भेंट

कथा-सूत्र

विदेह देश की राजधानी वैशाली में ईसा पूर्व ५९९ में भगवान् महावीर का अवतरण हुआ। मध्य देश में वैशाली बड़ी प्रसिद्ध नगरी थी। वह लिच्छवियों के बल-पराक्रम से तो प्रसिद्ध थी ही, उसकी गण-व्यवस्था, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक नीति सर्वमान्य थी। नगरी का सौन्दर्य अनेक उपवनों, वापिकाओं और उद्यानों से आकर्षक था।

वैशाली में गंडक नदी प्रवाहित होती थी। उसके तट पर दो उपनगर बसे हुए थे—क्षत्रिय कुंडग्राम और ब्राह्मण कुंडग्राम। क्षत्रिय कुंडग्राम के अधिपति महाराज सिद्धार्थ थे और उनकी रानी थीं—त्रिशला। इन्हीं के यहाँ चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

महावीर के जन्म के पूर्व महारानी त्रिशला को स्वप्न में १६ दृश्य दिखलायी दिये—गजराज, वृषभ, सिंह, स्नान करती लक्ष्मी, फूलों की माला, चन्द्रमा, सूर्य, मीन-युग्म, कलश, सरोवर, सिंधु, सिंहासन, विमान, इन्द्र-भवन, रत्न-राशि और अग्नि। राज-ज्योतिषी ने इन स्वप्नों के आधार पर घोषणा की कि महाराज सिद्धार्थ के यहाँ ऐसा पुत्र होगा जो अपने प्रताप से संसार का कल्याण करते हुए अमर रहेगा। नौ महीने सात दिन के उपरान्त महारानी त्रिशला ने एक सु-दर्शन पुत्र को जन्म दिया। महाराज सिद्धार्थ ने आनन्द-विभोर होकर बड़ा उत्सव मनाया। सारा नगर भाँति-भाँति के तोरणों से सजाया गया, दस दिनों तक जनता कर-मुक्त रही, बन्दी छोड़ दिये गये और नृत्य और गान से नगर का प्रत्येक कोना गूंज उठा। जिस समय से पुत्र गर्भ में आया, उसी समय से राज्य में धन-धान्य

और कोष-भंडार की आशातीत वृद्धि हुई, इसीलिए पिता सिद्धार्थ ने पुत्र का नाम 'वर्धमान' रखा।

जैसे-जैसे वर्धमान बड़े होते गये, उनमें रूप, गुण और शक्ति का उदय होता गया। वे अल्प काल में ही शस्त्र और शास्त्र के विविध अंगों में पारंगत हो गये। एक दिन जब वे क्रीड़ा-भूमि में लक्ष्य-वेध का अभ्यास कर रहे थे, एक हाथी गज-शाला से मुक्त हो गया। वह क्रोध से नगर के मार्ग पर निरीह जनता को कुचलता हुआ दौड़ रहा था। तभी कुमार वर्धमान उसके सम्मुख पहुँच गये और क्षिप्र गति से उसकी सूँड़ पर पैर रखकर उसके मस्तक पर बैठ गये। फिर उन्होंने उसके कानों को कुछ इस प्रकार सहलाया कि वह हाथी कुछ ही क्षणों में शान्त होकर ठहर गया और उसने प्रणाम की मुद्रा में अपनी सूँड़ ऊपर उठा दी। इसी प्रकार जब वर्धमान अपने साथियों के साथ एक वट-वृक्ष के नीचे खेल रहे थे, तभी एक भयंकर नाग फुफकारते हुए बालकों की ओर झपटा। वर्धमान निडर होकर आगे बढ़े और उन्होंने साहस से उसकी पूँछ पकड़ कर दूर फेंक दिया। वर्धमान के इन्हीं वीरतापूर्ण कार्यों से उन्हें 'महावीर' कहा जाने लगा।

किन्तु वे बचपन से ही धीर और गंभीर थे। जब वे बीस वर्ष के हुए तो पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला को उनके विवाह की चिन्ता हुई। उनके पास महावीर वर्धमान के विवाह के लिए अनेक राज्यों की सुन्दर-सुन्दर कन्याओं के चित्र और प्रस्ताव प्रस्तुत होने लगे। जब महावीर वर्धमान के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा गया तो उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। परिवार श्री पार्श्वनाथ का अनुयायी तो था ही, उनके संस्कार विवाह के स्थान पर संन्यास की ओर ही अधिक उन्मुख हो गये थे।

महावीर वर्धमान का विवाह हुआ या नहीं, इस पर मत-भेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय का मत है कि उनका विवाह नहीं हुआ किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि उनका विवाह कौडिन्य गोत्रीय राजकुमारी यशोदा से हुआ था। 'कल्प सूत्र' में विवाह का उल्लेख मिलता है। 'हरिवंश पुराण' में भी इसका निर्देश है।

यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीर विवाह मंगलं।
अनेक कन्या परिवारया सहृत्समीक्षतुं तुंग मनोरथं तदा ॥

(हरिवंश पुराण, ६६–८)

अतः वैराग्य की समस्त भावनाओं के क्रोड़ में भी मैंने महावीर वर्धमान के विवाह का उल्लेख कर दिया है। महावीर वर्धमान अपने माता-पिता का बहुत सम्मान करते थे। उनकी आज्ञा टालना वे पाप समझते थे, इसलिए जब उन्होंने विवाह करने का आदेश दिया तो उसे महावीर अस्वीकार नहीं कर सके। उन्होंने विवाह किया अन्यथा वे संन्यास लेने के पक्ष में ही थे।

श्री रिषभदास राँका लिखते हैं कि 'उनका वास्तविक जीवन तो गृह-त्याग के बाद ही शुरू होता है, इसलिए विवाह करने या न करने की बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।' **(भगवान् महावीर और उनका साधना-मार्ग, पृष्ठ ७)**

वे विवाह के उपरान्त भी संन्यास लेना चाहते थे किन्तु माता-पिता को कष्ट देना वे हिंसा का एक रूप मानते थे, इसलिए वे दस वर्षों तक गृहस्थाश्रम में रहे। महावीर की २८ वर्ष की अवस्था में उनके माता-पिता का देहान्त हो गया, इसलिए वे अब संन्यास लेने में स्वतंत्र थे। उन्होंने अपने भाई नन्दिवर्धन के समक्ष संन्यास ले लेने का प्रस्ताव रखा किन्तु उन्होंने अनुमति नहीं दी। दो वर्षों तक वे किसी प्रकार रुके रहे। जब उनकी पत्नी यशोदा कुछ समय के लिए अपने पिता के घर चली गई थीं, तभी महावीर के मन में वैराग्य की भावना प्रबल हो उठी और उन्होंने गृह त्याग कर संन्यास ले लिया। यह दिन मार्गशीर्ष कृष्ण १० का था।

संन्यास में महावीर को घोर उपसर्ग सहन करने पड़े। किन्तु उनके मन में संयम और अहिंसा के भाव इतनी दृढ़ता से जमे थे कि वे लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए। बारह वर्षों तक संन्यास-जीवन में उन्होंने भयंकर कष्ट सहे। किसी ग्राम में पहुँचने पर उनके त्याग और तप को न समझने वाले लोग उन पर प्रहार करते किन्तु वे इसका कोई प्रतिकार न करते। सर्प और विष-जन्तुओं का उपद्रव, भयानक शीत, और प्रबल ऊष्मा उन्हें कठोर साधना से नहीं डिगा सकी। वे स्वयं कष्ट सहन करते, दूसरों को किसी प्रकार का क्लेश पहुँचाना उन्हें स्वीकार नहीं था। वे

मौन रहते, उन्हें भोजन में कोई रुचि नहीं थी, वस्त्रों की कोई चाह नहीं थी। वे स्तुति-निन्दा से परे थे। संन्यासी होकर वे दूर-दूर तक भ्रमण करते रहे। उन्होंने राजगृह, चम्पा, वैशाली, मिथिला, वाराणसी, कौशाम्बी, अयोध्या, श्रावस्ती आदि अनेक स्थानों की यात्राएँ कीं। और इन यात्राओं में उन्होंने क्या-क्या कष्ट नहीं सहन किये !

अस्थिक ग्राम के एक चैत्य में शूलपाणि नामक एक यक्ष रहता था। उस चैत्य में वह किसी को नहीं ठहरने देता था। एक बार एक मुनि वहाँ ठहरने के लिए पहुँचे। शूलपाणि ने उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। घूमते-घूमते भगवान् महावीर भी उसी चैत्य में पहुँचे। ग्रामवासियों ने उन्हें वहाँ ठहरने से रोका किन्तु भगवान् महावीर तो भय और आशंका से परे थे। वे वहीं पद्मासन लगाकर ध्यान करते रहे। शूलपाणि आया, उसने उन्हें डराया, धमकाया पर उसका महावीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में उसने चंड कौशिक नाग से उन्हें कटवाना चाहा किन्तु नाग भी निश्चेष्ट हो गया। कहीं-कहीं चंड कौशिक का स्वतंत्र उल्लेख हुआ है जहाँ उसने श्वेतांगी के मार्ग के अरण्य में रहते हुए भगवान् महावीर को काटने का प्रयत्न किया। महावीर ने उससे कहा : 'चंड कौशिक ! सोच तो, तू क्या करने जा रहा है ?' भगवान् की अमृत वाणी से वह शान्त हो गया। मैंने शूलपाणि के साथ ही चंड कौशिक का उल्लेख किया है। यह नाटकीय शिल्प के लिए आवश्यक था। जब शूलपाणि महावीर का सिर काटने के लिए शूल लेने को चैत्य में जाने लगा तो उसी के नाग चंड कौशिक ने उसे डस लिया। जब वह अपनी प्राण-रक्षा के लिए चिल्लाया तो महावीर वर्धमान ने एक जड़ी से उसके विष को दूर किया।

भगवान् महावीर को साधना-पथ से हटाने के लिए इन्द्र द्वारा अप्सराओं को भेजने का उल्लेख हुआ है। स्वाभाविकता लाने के लिए मैंने वर्धमान के भाई नन्दिवर्धन द्वारा उनको प्रेरित करने का नाट्य-प्रयोग किया है।

बारह वर्ष की घोर साधना के उपरान्त जंभिय ग्राम के बाहर ऋजु बालुका नदी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे गोदोहन आसन में महावीर को वैशाख शुक्ल १० के दिन संबोधि प्राप्त हुआ।

संबोधि प्राप्त होने के पश्चात् तीस वर्ष तक उन्होंने अपने ज्ञान का प्रचार और प्रसार किया। भगवान् पार्श्वनाथ ने अपने चातुर्याम धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार व्रतों का आख्यान किया था। महावीर वर्धमान ने इन चार आख्यानों में ब्रह्मचर्य जोड़ कर पाँच व्रतों का आख्यान किया और कामदेव के पाँच बाणों को कुंठित कर दिया।

●

पात्र-परिचय

पुरुष (**प्रवेश**[illegible]र)

विजय
सुमित्र } : महावीर वर्धमान के सखा

महावीर वर्धमान : वैशाली नरेश महाराज सिद्धार्थ के कुमार

महाराज सिद्धार्थ : वैशाली नरेश

गिरिसेन : वैशाली के बलाध्यक्ष

दंडाधिकारी : वैशाली का नगर-रक्षक

नन्दिवर्धन : महावीर वर्धमान के बड़े भाई

इन्द्रगोप
चूल्लक } : अस्थिक ग्राम के निवासी

शूलपाणि : यक्ष

दो नागरिक

नारी (**प्रवेशानुसार**)

त्रिशला : वैशाली की राजमहिषी

सुनीता : त्रिशला की अंतरंग सेविका

यशोदा : महावीर वर्धमान की पत्नी

विशाखा : एक दरिद्र विधवा स्त्री

सुप्रिया
रंभा
तिलोत्तमा } : रूप-गर्विता सुन्दरियाँ

परिचारिका

नाटक के स्थल

पहला अङ्क : गंडक नदी के तट पर क्षत्रिय कुंडग्राम

दूसरा अङ्क : महाराज सिद्धार्थ के सभा-कक्ष का बाहरी भाग

तीसरा अङ्क : महारानी त्रिशला का शृंगार-कक्ष

चौथा अङ्क : राजमहल के बाहरी भाग में कुमार वर्धमान का क्रीड़ा-कक्ष

पाँचवाँ अङ्क : मोराक ग्राम······अस्थिक ग्राम

पहला अंक

(परदा उठने के पूर्व नेपथ्य से चर्या-पाठ)

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सि लोए परत्थ य॥

(उत्तराध्ययन १–१५)

[अर्थात् पहले अपना ही दमन करना चाहिए, यही सबसे कठिन कार्य है। ऐसा व्यक्ति जो स्वयं का दमन करता है, वह लोक और परलोक में सुखी होता है।]

इस अंक में पात्र (प्रवेशानुसार)

१—विजय

२—सुमित्र

३—महावीर वर्धमान

४—दो नागरिक

[**स्थान : वैशाली नगरी में गंडक नदी के तट पर क्षत्रिय कुंडग्राम। उसके समीप एक उपवन। नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं की शोभा। वसन्त के फूल और फल।**

समय : प्रातःकाल का प्रथम प्रहर। पक्षियों का कूजन।

स्थिति : परदा उठने पर नेपथ्य की दाहिनी ओर से एक बाण आता है। साथ ही नेपथ्य में 'साधु' शब्द गूँजता है। फिर बायीं ओर से बाण आता है और फिर 'साधु' शब्द गूँजता है। कुछ ही क्षणों बाद दोनों दिशाओं से दो क्षत्रिय कुमार आते हैं। एक का नाम विजय है, दूसरे का सुमित्र। दोनों के हाथों में धनुष-बाण हैं। केश खुले हुए, अंगों पर पीत वस्त्र, पैरों में उपानह। वे दोनों आखेटक-वेश में हैं।]

विजय : भाई सुमित्र! तुमने मेरे बाणों की गति देखी? लक्ष्य-वेध करने में कितना आनन्द आता है! ऐसा लगता है जैसे मेरा प्रत्येक बाण सूर्य की किरण है जिसके छूटते ही क्षितिज के बादलों का रूप बिगड़ जाता है और पक्षियों का कलरव जय-गान करने लगता है।

सुमित्र : और मेरे बाण की गति तो जैसे विद्युत की गति को भी लज्जित करती है। मैं जब लक्ष्य-वेध करता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि शत्रुओं के

राज्यों की जो सीमाएँ सीधी थीं वे टेढ़ी होकर संकुचित हो गई हैं और मेरे बाण शत्रुओं के हृदय में आतंक की आँधी उठा रहे हैं।

विजय : यह तो ठीक है किन्तु अब कुमार वर्धमान ने लक्ष्य-बेध पर प्रतिबन्ध लगा दिया है।

सुमित्र : क्षत्रिय कुमार होकर लक्ष्य-बेध पर प्रतिबन्ध?

विजय : हाँ, क्षत्रिय कुमार होकर लक्ष्य-बेध पर प्रतिबन्ध। वे कहते हैं कि लक्ष्य-बेध में कुशलता अवश्य प्राप्त करो किन्तु इस लक्ष्य-बेध से किसी प्रकार की हिंसा न हो।

सुमित्र : यदि लक्ष्य-बेध में हिंसा-अहिंसा का ध्यान रखा जाय तो लक्ष्य-बेध का कौशल ही क्या रहा! यह तो वैसा ही हुआ कि शत्रु को ललकारो किन्तु कण्ठ से ध्वनि न निकले।

विजय : यदि इस कुंडग्राम के गणराज्य में रहना है तो ऐसा ही करना पड़ेगा। अब यही देखो, उस पेड़ में कितने मधुर फल लगे हुए हैं। इच्छा होती है कि अपने बाण से लक्ष्य लेकर सारे मीठे फल गिरा लें, सुगन्धित फूलों को झकझोर कर भूमि पर गिरा लें और माला बना कर अपनी प्रियतमा के कंठ में डाल दें किन्तु—किन्तु कुमार वर्धमान ऐसा नहीं चाहते।

सुमित्र : क्यों? क्यों नहीं चाहते? फूलों और फलों के गिराने में क्या हानि है?

विजय : वे तो इसे हानि ही मानते हैं। कहते हैं कि वृक्षों में चेतना है, जीवन है। वे फूलते हैं, फलते हैं। उन पर प्रहार करोगे तो हिंसा होगी। यदि लक्ष्य-बेध करना है तो जड़ पदार्थों पर करो जिनमें चेतना नहीं है।

सुमित्र : जड़ पदार्थों में तो पत्थर है जिसमें चेतना नहीं है। वे वर्षों से एक ही दशा में पड़े रहते हैं किन्तु पत्थरों पर बाण चलाओगे तो उनकी

धार कुंठित नहीं होगी ? फिर लक्ष्य-बेध का क्या कौशल रहा ? सोचो···समझो ! उड़ते हुए पक्षी को बाण से न गिराओ, किसी हिंस्र पशु का भी लक्ष्य न लो। फिर तो धनुष-बाण हमारे शस्त्र नहीं रहे, हाथ के आभूषण हो गये।

विजय : एक बार तो वे बड़े कौतुक की बात कह रहे थे।

सुमित्र : कैसे कौतुक की बात ?

विजय : कहते थे कि तुम्हारे सामने पाँच-पाँच लक्ष्य हैं, तुम इनमें से एक का भी बेध नहीं कर सकते ? उनका लक्ष्य लो ।

सुमित्र : अच्छा, पाँच-पाँच लक्ष्य हैं ? सुनूं तो, वे पाँच लक्ष्य कौन-से हैं ?

विजय : वे पाँच लक्ष्य सुनोगे ? वे हैं—अहिंसा एक, सत्य दो, अस्तेय तीन, अपरिग्रह चार और ब्रह्मचर्य पाँच।

सुमित्र : (**अट्टहास कर**) ये पाँच लक्ष्य हैं ? किन्तु इनका लक्ष्य लिया कैसे जाता है ? ये स्थूल रूप से तो कहीं दिखलायी नहीं देते। फिर उनका लक्ष्य कैसे लिया जाय ?

विजय : भाई, तुम समझे नहीं। स्थूल वस्तुओं का लक्ष्य-बेध तो कोई भी कर सकता है। इस सूक्ष्म लक्ष्य-बेध के लिए दूसरे बाणों की आवश्यकता है।

सुमित्र : अच्छा सुनूं, वे दूसरे बाण कौन-से हैं ?

विजय : वे हैं—संयम, त्याग, क्षमा, प्रायश्चित्त और तप ।

सुमित्र : ये बाण कहाँ मिलेंगे ? और ऐसा लक्ष्य-बेध किस धनुर्वेद में है ? बन्धु ! यह धनुर्वेद नहीं है, ज्ञान का रूपक है । और यह किसी क्षत्रिय का गौरव नहीं है, किसी ब्राह्मण का भले ही हो ।

विजय : यहाँ क्षत्रिय और ब्राह्मण की बात नहीं है, मित्र ! बात है पुरुषार्थ की।

सुमित्र : तो पुरुषार्थ असंभव बातों में नहीं होता, विजय! यदि कुमार वर्धमान कहें कि इन्द्रधनुष के रंगों का लक्ष्य-वेध करो तो तुम इन पाँच बाणों से उन रंगों का लक्ष्य-वेध कर सकोगे ?

विजय : मुझ से तो संभव नहीं है और यदि संभव हुआ भी तो पाँच रंगों के लक्ष्य-वेध के बाद दो रंग तो शेष बच ही जायेंगे।

सुमित्र : **(हँस कर)** उनका लक्ष्य-वेध कुमार वर्धमान कर लेंगे। **(नेपथ्य की ओर देख कर)** अरे, कुमार वर्धमान इसी ओर आ रहे हैं।

विजय : अच्छा ? आ रहे हैं ? अब उनसे लक्ष्य-वेध का रहस्य पूछो।
(सुमित्र और विजय व्यवस्थित होकर सावधान हो जाते हैं। कुमार वर्धमान का प्रवेश। वे अत्यन्त सुन्दर हैं। आकर्षक वेश-भूषा। मुक्त केश, गैरिक उत्तरीय। अधोवस्त्र जैसे ब्रह्मचर्य की भाँति कसा हुआ। रत्न-जटित उपानह। हाथों में धनुष-बाण।)

विजय
सुमित्र } : कुमार की जय !

वर्धमान : जय पार्श्वनाथ! **(क्रम से देख कर)** विजय! सुमित्र! तुम दोनों ने लक्ष्य-वेध का अभ्यास किया ? कहाँ-कहाँ लक्ष्य-वेध किया ?
(दोनों नीचे देखते हुए मौन रहते हैं।)

वर्धमान : तुम दोनों मौन हो। मौन से भी लक्ष्य-वेध होता है। **(टहलते हुए)** जो अपशब्द कहता है यदि उसके समक्ष तुम मौन रहे तो तुम्हारे शान्त हृदय का तीर अपशब्दों का चिह्न भी नहीं रहने देगा।

सुमित्र : जिस तीर का नाम आप ले रहे हैं, वह क्षत्रियों के धनुर्वेद में नहीं है, कुमार !

वर्धमान : क्षत्रियों के धनुर्वेद में ? सुमित्र ! वह क्षत्रियों के धनुर्वेद में ही है। 'क्षत्रिय' का अर्थ जानते हो, क्या है ? जो क्षत से—हिंसा से बचा

सके। और जो हिंसा से—क्षत से बचा सके, रक्षा कर सके, वही क्षत्रिय है।

सुमित्र : तो आपने हिंसा के भय से इन स्थूल बाणों से लक्ष्य-बेध तो किया न होगा।

वर्धमान : अवश्य किया है। मैं स्थूल बाणों में भी विश्वास रखता हूँ और उनसे लक्ष्य-बेध करता हूँ। मिट्टी के शिखर बना कर उन्हें बाणों से बेधता हूँ। सूखे पेड़ों पर चिह्न बनाकर उन्हें धराशायी करता हूँ। यहाँ के पेड़ तो हरे-भरे हैं। कितने सजीव हैं! बढ़ते हैं, फूलते हैं, सुगन्धि देते हैं, फल देते हैं। कितनी सुरम्य चेतना है उनमें! इन्हें बाणों का लक्ष्य बनाना हिंसा है—घोर हिंसा है। इसीलिए मैं सूखे पेड़ों की खोज में दूर चला गया था।

विजय : आप संसार की प्रत्येक वस्तु को बहुत गहरी दृष्टि से देखते हैं, कुमार!

(सहसा नेपथ्य में भारी तुमुल होता है। घबराहट के स्वरों में कण्ठों से गहरी चीख सुनायी देती है :

भागो! भागो! रक्षा करो!
गजशाला से हाथी छूट गया है!
हाय! वह वृद्ध कुचल गया!
बचो! बचो! भागो! भागो!
मार्ग से हटो!
हाय! रक्षा करो! रक्षा करो!)

वर्धमान : (**चौंक कर**) रक्षा की यह पुकार?······यहीं पास से आ रही है: मैं अभी देखता हूं। (**चलने को उद्यत**)

विजय : (**विह्वलता से**) आप न जायं, कुमार! हम लोग जाते हैं। ज्ञात होता

है कि गजशाला से हाथी छूट गया ह । वह लोगों को कुचलता हुआ आ रहा है । कहीं आप पर भी आक्रमण न कर दे !

वर्धमान : मुझ पर आक्रमण कर दे तो अच्छा है ! अन्य व्यक्ति बच जायेंगे ।

सुमित्र : नहीं, ऐसा नहीं होगा, कुमार ! हमारे हाथों में धनुष-बाण हैं । आज हमारे हाथों उस हाथी के कुंभ का ही लक्ष्य-बेध होगा ।

विजय : इसके पहले कि वह हाथी लोगों को अपने पैरों से कुचले मैं अपने बाणों से उसके पैरों की हड्डियाँ ही टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा।

सुमित्र : विजय ! मैं दाहिनी ओर हूँ, तुम बायीं ओर हो जाओ । हाथी के सामने आते ही हम दोनों एक साथ ही उस पर प्रहार करेंगे । **(दोनों ही मंच के दाहिने-बायें होकर धनुष पर बाण साधते हैं ।)**

वर्धमान : **(हाथ से वर्जित कर)** नहीं, किसी जीव पर धनुष संधान करना ठीक नहीं होगा ।

सुमित्र : किन्तु वह जीव पागल है, मतवाला है । उससे अन्य जीवों की हानि है ।

विजय : और जब एक जीव से अनेक जीवों की हानि हो रही हो तो उस एक जीव को मारने में कोई हानि नहीं है, कोई हिंसा नहीं है, कुमार !

वर्धमान : जीव अन्ततः जीव ही है । तुम लोग रुको । मैं स्वयं अभी जाकर उस हाथी को देखता हूँ ।

सुमित्र : हम लोग भी आपके साथ चलें ? आपका कोई अनिष्ट न हो !

वर्धमान : नहीं, तुम लोग यहीं रहो । तुम लोग क्रोध में आकर कुछ अनिष्ट कर बैठोगे । मैं अकेला जाऊँगा ।

विजय : कुमार ! आप रुकें । आप अकेले न जायें ।

वर्धमान : नहीं, मैं अकेला ही जाऊँगा ।

विजय : हाथी पागल हो गया है। वह आप पर भी आक्रमण कर देगा।

वर्धमान : आक्रमण करे तो कर दे। मैं अकेला ही जाऊँगा। तुम लोग यहीं रुको। मेरा आदेश मान्य हो।

(कुमार वर्धमान का शीघ्रता से प्रस्थान)

विजय : **(कुमार के जाने की दिशा में देखते हुए)** कुमार अकेले ही चले गये। हम लोगों को आदेश दे दिया कि हम लोग यहीं रुकें। डर है, कहीं कोई अनिष्ट न हो।

सुमित्र : कुमार का यह साहस अनुचित है। पागल हाथी सामान्य व्यक्ति और राजकुमार में कोई अन्तर नहीं रखेगा। और कुमार उस हाथी को क्या देखेंगे, जब उनके सामने जीवों पर लक्ष्य लेने की बात ही नहीं है।

विजय : कुमार ने व्यर्थ ही हमें रोक दिया, नहीं तो आज बाण चलाने में मेरा कौशल देखते !

सुमित्र : मेरा लक्ष्य-वेध तो अचूक होता। आज तक मेरे बाणों ने लक्ष्य का केन्द्र ही देखा है, उसकी परिधि नहीं।

विजय : यह तो मैं जानता हूँ किन्तु आश्चर्य है कि गजशाला में यह हाथी कैसे छूट गया। क्या महावत उसे नहीं रोक सका ?

सुमित्र : महावत असावधान होगा, या प्रयत्न करने पर भी वह उसे नहीं रोक सका होगा। अब कुमार वर्धमान उसे जाकर रोकेंगे।

विजय : वे कैसे रोकेंगे ? धनुष-बाण का प्रयोग तो वे करेंगे नहीं।

सुमित्र : **(हँस कर)** धनुष-बाण का प्रयोग क्यों करेंगे ? वे तो कोई सूक्ष्म बाण चलाएँगे। स्थूल बाण से जीव की हत्या होगी और जीव की हत्या संसार की सबसे बड़ी हिंसा है।

विजय : **(सोचते हुए)** हिंसा हो या न हो, किन्तु उस हाथी ने क्रोध में आकर यदि कुमार पर आक्रमण कर दिया तो बड़ा अनर्थ होगा।

सुमित्र : **(लापरवाही से)** कुछ नहीं। क्या अनर्थ होगा ? महाराज सिद्धार्थ हम दोनों को बन्दीगृह में डाल देंगे। हम लोग कुमार के साथ क्यों नहीं गये। हम दोनों ने उनकी रक्षा क्यों नहीं की। इसी अपराध पर वे हम लोगों को बन्दीगृह में अवश्य डाल देंगे।

विजय : क्यों डाल देंगे ? हम लोग तो कुमार के साथ जाने के लिए तैयार थे, कुमार ने ही हमें रोक दिया। इसमें हमारा क्या अपराध ?

सुमित्र : अपराध यही कि हम लोगों ने कुमार वर्धमान को हाथी का सामना करने के लिए जाने ही क्यों दिया ? उन्हें रोका क्यों नहीं।

विजय : मैंने तो उन्हें रोका था। वे रुके ? कहने लगे—हाथी यदि मुझ पर आक्रमण करे तो कर दे।

सुमित्र : जो भी हो, यह अच्छा नहीं हुआ। कुमार अकेले ही चले गये। वे हम लोगों के साथ जाने पर अनिष्ट की बात कह रहे थे पर हम लोग समझते हैं कि उनके अकेले जाने से ही अनिष्ट हो सकता है।

विजय : क्या कहा जाय ! प्रभु पार्श्वनाथ रक्षा करें ! कितना अच्छा होता यदि वे हम लोगों को अपने साथ ले जाते ! यदि वह हाथी कुमार पर आक्रमण करता तो हमें उनकी रक्षा का अवसर मिल जाता। **(मुस्करा कर)** कुछ पुरस्कार मिल जाता !

सुमित्र : रक्षा तो हम लोग करते ही। फिर हमारे धनुष-बाण का कौशल भी जनता पर स्पष्ट हो जाता। ऐसे ही अवसर पर तो धनुष-बाण की उपयोगिता है।

विजय : **(ठंडी सांस लेकर)** यह अवसर की बात है।

(नेपथ्य में उल्लास की ध्वनि—धन्य है ! धन्य है ! धन्य है !
कुमार वर्धमान की जय !
कुमार वर्धमान की जय !
कुमार वर्धमान की जय !)

विजय : यह जय-ध्वनि कैसी ?

सुमित्र : कुमार वर्धमान की जय ? वहाँ हाथी निरीह जनता को कुचल रहा होगा, यहाँ कुमार वर्धमान पहुँचे और उनकी जय बोली जा रही है !

विजय : (**विवश होते हुए**) कुछ समझ में नहीं आ रहा है ।

सुमित्र : चलो, हम लोग चलकर देखें कि बात क्या है ।

विजय : कुछ अच्छी ही बात होगी । चलो, हम लोग भी जय-ध्वनि में सम्मिलित हों । (**चलने को उद्यत होते हैं, तभी दो नागरिक शीघ्रता से आते हैं ।**)

एक : क्षत्रिय कुमारों को प्रणाम ! आप लोग कुमार वर्धमान के साथी हैं ?

सुमित्र : हाँ, नागरिक ! किन्तु कुमार वर्धमान कहाँ हैं ?

दूसरा : धन्य हैं, कुमार वर्धमान ! साधु ! साधु ! वे जनता के बीच में हैं । चारों ओर से उन पर पुष्प-वर्षा हो रही है ।

विजय : (**कुतूहल से**) पुष्प-वर्षा ? कैसे ? किसलिए ? और वह हाथी ?

सुमित्र : वह पागल हाथी जो गज-शाला से छूट कर लोगों को कुचलता हुआ आ रहा था ?

पहला : उसी पागल हाथी को तो कुमार ने एक क्षण में अपने वश में कर लिया ।

सुमित्र : वश में कर लिया ? कैसे ? क्या उन्होंने धनुष-बाण का प्रयोग किया ?

दूसरा : नहीं, श्रीमन् ! वे धनुष-बाण अवश्य लिये हुए थे किन्तु उन्होंने धनुष-बाण तो मुझे दे दिया और हाथी के सामने निर्भयता से पहुँच गये ।

विजय : निर्भयता से पहुँच गये ? तब हाथी ने क्या किया ?

सुमित्र : वह तो दौड़ता हुआ आ रहा होगा ?

पहला : भयानक आँधी की तरह। जैसे एक गरजता हुआ काला बादल भूमि पर उतर आया है। उसके पैरों की धमक से पृथ्वी काँप रही थी। वह पेड़ों को इस तरह उखाड़ देता था जैसे चुम्बक पत्थर लोहे को अपनी ओर खींच लेता है और आँखें तो इस तरह लाल थीं जैसे दो दहकते हुए अंगारे रखे हों।

विजय : ऐसे भयानक हाथी के सामने पहुँचना कितने साहस का काम था !

दूसरा : ओह ! कुमार में कितना साहस था ! और उनकी आँखों में कितना आकर्षण था !

पहला : श्रीमन् ! कुमार दोनों हाथ फैला कर उस हाथी के मार्ग में खड़े हो गये। जैसे ही हाथी ने क्रोध से अपनी सूँड़ आगे बढ़ायी वैसे ही कुमार ने उसे पकड़ कर अपने सामने कर लिया और उस पर पैर रखकर वे विद्युत गति से उसके मस्तक पर बैठ गये। उन्होंने न जाने किस तरह हाथी के कानों को सहलाया कि जो गजराज दो क्षण पहले क्रोध से पागल हो रहा था, वह कुमार को अपने मस्तक पर पाकर तुरन्त ही शान्त हो गया।

सुमित्र : **(आश्चर्य से)** शान्त हो गया ? आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !

दूसरा : शान्त ही नहीं हो गया, वह अपनी सूँड़ उठा कर प्रणाम की मुद्रा में खड़ा हो गया।

विजय : सचमुच ! कुमार वर्धमान में अपार साहस और शक्ति है।

पहला : साहस और शक्ति ही नहीं, श्रीमन् ! लगता है, उनमें कोई दिव्य विभूति जगमगा रही है। उनको सामने देखकर बड़े से बड़ा क्रोधी शान्त हो जाता है।

दूसरा : मुझे तो ऐसा लगता है कि कुमार वर्धमान को अपने मस्तक पर बिठलाने के लिए ही वह हाथी मतवाला हो गया था। कुमार जैसे ही उसके मस्तक पर बैठे कि वह शान्त हो गया।

सुमित्र : हम लोग तो बड़े चिन्तित हो रहे थे कि वह मतवाला हाथी कुमार पर भी कहीं आक्रमण न कर दे।

विजय : हम लोग भी कुमार की रक्षा के लिए उनके साथ जाना चाहते थे किन्तु उन्होंने हमें रोक दिया और अकेले ही दौड़ पड़े।

पहला : उन्हें किसी से रक्षा की आवश्यकता नहीं है। वे अकेले ही सैकड़ों हाथियों का सामना कर सकते हैं।

सुमित्र : वह हाथी अब कहाँ है ?

दूसरा : कुमार ने उसे फिर गज-शाला में भेज दिया। जैसे ही हाथी शान्त हुआ महावत पीछे से दौड़ता हुआ आया। कुमार वर्धमान ने उसे हाथी सौंप दिया और वे हाथी से उतर पड़े। नगर की जनता जय-ध्वनि करते हुए उन पर पुष्प-वर्षा करने लगी।

पहला : और हाथी से उतरते ही उन्होंने गणपाल को आज्ञा दी कि जो अभागे व्यक्ति हाथी के पैरों से कुचल गये हैं उनका शीघ्र ही उपचार किया जाय।

विजय : वास्तव में कुमार वर्धमान नर-रत्न हैं।

दूसरा : उन्होंने पुष्प-वर्षा रोककर जनता से कहा कि वे जाकर घायल व्यक्तियों की देख-भाल करें। पुष्प-वर्षा करने की अपेक्षा क्षत-विक्षत व्यक्तियों की सेवा करना जनता का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए।

सुमित्र : तो इस समय कुमार कहाँ हैं ?

दूसरा : वे सब को विदा कर यहाँ आते ही होंगे। उन्होंने कहा था कि उनके साथी सुमित्र और विजय हमारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। आप ही उनके साथी ज्ञात होते हैं।

विजय : हाँ, हम लोगों का यह सौभाग्य है। **(संकेत कर)** ये सुमित्र हैं और मैं विजय हूँ। इस शुभ सूचना के लिए अनेक धन्यवाद।

पहला : तो हम लोग चल रहे हैं। हमें घायलों की सेवा करनी है।

दूसरा : घायलों में एक तो मेरा विरोधी रहा है। किन्तु जब वह हाथी के पैरों के नीचे आ गया तो कुमार वर्धमान ने मुझसे कहा कि मुझे ही उसकी सेवा करनी चाहिए।

पहला : तो फिर चलो!

दूसरा : हाँ, चलो। **(विजय और सुमित्र से)** अब हमें आज्ञा दीजिए!

दोनों : जय वर्धमान! **(प्रस्थान)**

सुमित्र : इन लोगों ने अच्छी सूचना दी पर यह विचित्र बात अवश्य है कि कुमार वर्धमान ने बिना किसी शस्त्र के उस मतवाले हाथी को वश में कर लिया।

विजय : विचित्र अवश्य है। सामान्य व्यक्ति तो ऐसी स्थिति में अपना धैर्य भी खो बैठता है। उन्होंने एक क्षण में हाथी का पागलपन दूर कर दिया। वे किसी अलौकिक शक्ति से विभूषित वीर पुरुष ज्ञात होते हैं।

सुमित्र : सचमुच वे वीर हैं। कुमार की इस वीरता की सूचना से महाराज सिद्धार्थ बड़े प्रसन्न होंगे।

विजय : तो चलो, उन्हें सूचना दी जाय।

सुमित्र : इस समय तक तो उन्हें सूचना मिल गई होगी। फिर भी चलो। हम लोग भी महाराज की प्रसन्नता के भागी बनें। **(नेपथ्य की ओर देख कर)** अरे, कुमार वर्धमान तो इसी ओर आ रहे हैं।

विजय : हम लोगों के पास पुष्प-वर्षा के लिए पुष्प तो हैं नहीं, केवल जय-ध्वनि ही कर सकते हैं।

(कुमार वर्धमान का गंभीर गति से प्रवेश)

सुमित्र : कुमार वर्धमान की जय !

विजय : कुमार वर्धमान की वीरता की जय !

वर्धमान : (**गंभीर स्वर में**) जय किस बात की ? यह तो सामान्य बात है, विजय ! पहले अपने आपको जीतना आवश्यक है। जो अपने को जीत लेता है, वह संसार की प्रत्येक वस्तु जीत लेता है।

सुमित्र : निस्सन्देह आपने यह प्रत्यक्ष कर दिखाया। अभी दो नागरिक आये थे। उन्होंने अभी हमें यह सूचना दी कि आपने बिना अस्त्र-शस्त्र के उस पागल हाथी को अपने वश में कर लिया। उन्होंने कहा कि आपने उन्हें अपना धनुष-बाण देकर निश्शस्त्र होकर हाथी का सामना किया। आपको किसी प्रकार का भय नहीं हुआ ?

वर्धमान : जिसे आत्म-विश्वास होता है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता, सुमित्र ! जिसे भय होता है, वह अपनी शक्ति से अपरिचित रहता है।

विजय : तो आपने बिना आक्रमण किये ही हाथी को वश में कर लिया ?

वर्धमान : विजय ! मनुष्य यदि हिंसा-रहित है तो वह किसी को भी अपने वश में कर सकता है। बात यह है कि संसार में प्रत्येक को अपना जीवन प्रिय है। इसलिए जीवन को सुखी करने के लिए सभी कष्ट से दूर रहना चाहते हैं। जो व्यक्ति अपने कष्ट को समझता है, वह दूसरे के कष्ट का भी अनुभव कर सकता है। और जो दूसरों के कष्ट का अनुभव करता है, वही अपने कष्ट को समझ सकता है। इसलिए उसे ही जीवित रहने का अधिकार है जो दूसरों को कष्ट न पहुँचाये, दूसरों की हिंसा न करे। जो दूसरों के कष्ट हरने की योग्यता रखता है, वही वास्तव में वीर है।

विजय : आप दूसरों के कष्ट समझते हैं। इसलिए आप सच्चे वीर हैं, कुमार !

सुमित्र : तो आज से कुमार वर्धमान का नाम 'वीर वर्धमान' होना चाहिए।

विजय : मैं तुमसे पूर्ण सहमत हूँ, सुमित्र ! हमारे कुमार वीर वर्धमान हैं।

सुमित्र : तो अब हम लोग चलें। महाराज सिद्धार्थ वीर वर्धमान की प्रतीक्षा कर रहे होंगे। नागरिकों ने उन्हें सूचना दे दी होगी कि किस तरह उन्होंने एक मतवाले हाथी को बिना किसी शस्त्र के अपने वश में कर लिया। वे वास्तव में वीर हैं।

विजय : अवश्य। चलिए कुमार वीर वर्धमान !
(**सब चलने को उद्यत होते हैं किन्तु विजय एक वृक्ष की ओर देखकर रुक जाता है।**)

विजय : (**चौंक कर**) अरे, यह देखो !

सुमित्र : क्यों ? क्या है ?

विजय : अरे, उस पेड़ की जड़ की ओर देखो !

सुमित्र : ओह ! भयानक सर्प ! कितना बड़ा सर्प है ! हटो—हटो—पीछे हटो, विजय !

वर्धमान : (**विजय से**) पीछे क्यों हट रहे हो ! देखो, वह सर्प कहाँ जाता है।

विजय : (**डर कर**) जायगा कहाँ ? वह हम लोगों को डसने के लिए आ रहा है।

सुमित्र : ओह ! उसने कितना भयानक फन फैला रखा है ! कुमार वर्धमान क्षमा करें, इच्छा होती है कि इसके फन को अपने एक ही बाण से बेध दूँ।

विजय : और यदि लक्ष्य चूक गया तो वह इस तरह झपट पड़ेगा कि भागने का मार्ग भी नहीं मिलेगा।

सुमित्र : तुम जानते हो, विजय ! मेरे बाणों का लक्ष्य अचूक होता है। जो दूसरों के प्राण लेता है, उसे मारने में हिंसा नहीं होगी। कुमार वर्धमान मुझे क्षमा करें ! मैं लक्ष्य लेता हूँ। (**धनुष पर बाण संधान करता है।**)

वर्धमान : सुमित्र ! उसे बाण मत मारो। बिना बाण चलाये ही इससे तुम्हारी रक्षा हो जायगी। तुम व्यर्थ ही भय खाते हो। मैं ही उसे मार्ग से हटा देता हूं। (**वर्धमान आगे बढ़ कर सर्प को पूँछ पकड़ कर उसे नेपथ्य में दूर फेंक देते हैं।**)

सुमित्र : (**आगे बढ़कर**) अरे, अरे, कुमार ! वह काट लेगा । इसने आपको काटा तो नहीं ?

विजय : हाय ! कहीं काट न लिया हो। देखूँ। (**पास जाता है।**)

वर्धमान : नहीं। वह मुझे क्यों काटेगा ? मेरे मन में सर्प के लिए कोई बुरा भाव नहीं है। न क्रोध है, न भय है।

सुमित्र : वास्तव में कुमार ! आपके हृदय में अदम्य साहस है।

विजय : यह तो महावीरता है। सुमित्र ! पहले तुमने कुमार के लिए वीर वर्धमान नाम कहा। अब मैं इन्हें 'महावीर वर्धमान' कहता हूँ, महावीर वर्धमान।

सुमित्र : सचमुच—महावीर वर्धमान।

विजय : तो हमें महावीर वर्धमान की जय बोलनी चाहिए।

दोनों : महावीर वर्धमान की जय ! जय ! जय !

(**दोनों महावीर वर्धमान को प्रणाम करते हैं। महावीर वर्धमान शान्त मुद्रा में खड़े रहते हैं।**)

[परदा गिरता है।]

दूसरा अंक

(परदा उठने के पूर्व नेपथ्य से चर्या-पाठ)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायामज्जव भावेण, लोभं संतोसओ जिणे ।।

(दशवैकालिक ८-३६)

[अर्थात् शमन से क्रोध को जीते, मृदुता से अभिमान को जीते, सरलता से माया को जीते, और संतोष से लोभ को जीते।]

इस अंक में पात्र (प्रवेशानुसार)

१—सम्राट् सिद्धार्थ

२—गिरिसेन

३—विजय

४—सुमित्र

५—त्रिशला

६—महावीर वर्धमान

[स्थान : सम्राट् सिद्धार्थ के सभा-कक्ष का बाहरी भाग

समय : दिन का तीसरा प्रहर

स्थिति : सभा-कक्ष में सम्पूर्ण सजावट है। द्वारों और झरोखों पर कौशेय पट। सामने की दीवाल पर स्वामी पार्श्वनाथ का बड़ा-सा चित्र। फर्श पर मखमल के बिछावन। बीच में स्वर्ण सिंहासन जिसमें मोतियों की झालरें लगी हुई हैं। उसके दोनों ओर रेशम और ज़री से मढ़ी हुई भद्र पीठिकाएँ। कोनों में कलापूर्ण प्रतिमाएँ। कक्ष अगरु और चन्दन के धूम से सुवासित है।

सम्राट् सिद्धार्थ क्रोध की मुद्रा में टहल रहे हैं। वय पचास के लगभग है। विस्तीर्ण ललाट, उठी हुई नासिका। क्रोध से ओंठ फड़क रहे हैं। सिर पर किरीट और अंग पर राजसी वस्त्र। पैरों में रत्न-जटित उपानह। उनके सामने बलाध्यक्ष गिरिसेन सैनिक वेश में है। वह अपराधी की मुद्रा में सम्राट् के सामने खड़ा हुआ है। सम्राट् अशान्त होकर क्रोध भरे स्वरों में बोल रहे हैं।]

सिद्धार्थ : तो गज-शाला में इन्द्रगज कैसे निकल गया ? गजाध्यक्ष कहाँ थे ? मोटी-मोटी शृंखलाओं में कसा हुआ गज मुक्त होकर राजपथ पर चला गया और द्वार-रक्षक और नगर-रक्षक नगर-निवासियों के कुचले जाने का कौतुक देखते रहे ? बोलो, गिरिसेन ! यह सब कैसे हुआ ?

गिरिसेन : सम्राट् ! सावधान तो गजाध्यक्ष भी था किन्तु······

सिद्धार्थ : (**बीच ही में**) सावधान ? सावधान होने का यह अर्थ है कि दुर्घटनाएँ घटित होती रहें और नगर-रक्षक उन पर नियन्त्रण न रख सकें ? बादल चारों ओर से घिरे हों और बिजली टूट कर पृथ्वी को ध्वस्त कर दे ? सावधान रहने का क्या यह अर्थ है ?

गिरिसेन : सम्राट् ! अपराध क्षमा हो। गजाध्यक्ष हाथी को स्नान करा रहा था।

सिद्धार्थ : इस तरह स्नान करा रहा था कि इन्द्रगज निरीह जनता को रक्त से स्नान करा दे ?

गिरिसेन : सम्राट् ! ऐसी संभावना नहीं थी किन्तु उसी समय किसी अज्ञात दिशा से आया हुआ बाण इन्द्रगज को लगा और वह विचलित होकर एक दिशा की ओर भागा। गजाध्यक्ष ने बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह उसे वश में करने में असफल रहा। वह गज उत्तर की ओर वेग से दौड़ पड़ा······

सिद्धार्थ : और नगर-रक्षक कहाँ थे ?

गिरिसेन : वे कुमार वर्धमान के क्रीड़ा-क्षेत्र की सुरक्षा में व्यस्त थे।

सिद्धार्थ : और यहाँ इन्द्रगज के वेग से नागरिक क्षत-विक्षत होते रहे !

गिरिसेन : अधिक नहीं, सम्राट् ! गज के मुक्त होने की सूचना पाकर कुछ नगर-रक्षकों ने इन्द्रगज के जाने की दिशा मोड़ दी जिससे वह नगर के निर्जन प्रान्तर की ओर जाय और इस कारण······

(**नेपथ्य में जय-घोष—'कुमार वर्धमान की जय ! जय ! जय !'**

सिद्धार्थ : यह कैसा जय-घोष ?

गिरिसेन : मैं अभी जाकर देखता हूँ। (**शीघ्रता से प्रस्थान**)

सिद्धार्थ : (**और भी अशान्त होकर टहलते हुए**) इन्द्रगज मुक्त होकर नागरिकों

को कुचलता हुआ चला जाय और कुमार वर्धमान की जय का घोष हो ? वर्धमान के जन्म से राज्य की सम्पदाओं की वृद्धि हुई और अब निरीह जनता की मृत्यु की वृद्धि हो !

(गिरिसेन का शीघ्रता से प्रवेश)

गिरिसेन : महाराज की जय हो ! धन्य हैं कुमार वर्धमान ! उन्होंने इन्द्रगज को वश में कर लिया।

सिद्धार्थ : (**कुतूहल से**) वश में कर लिया ? कैसे ? किस तरह ? कुमार वर्धमान ने उस शक्तिशाली इन्द्रगज को ?

गिरिसेन : अब सम्राट् ! यह तो मैं नहीं कह सकता। मैंने इतना ही सुना कि हमारे कुमार वर्धमान ने इन्द्रगज को वश में कर लिया और उसे गजाध्यक्ष को सौंप कर गज-शाला में भेज दिया।

सिद्धार्थ : (**प्रसन्न होकर**) गज-शाला में भेज दिया ! साधु ! साधु !! (**सोचते हुए**) किन्तु वे वहाँ कैसे पहुँचे ? वे तो लक्ष्य-बेध का अभ्यास कर रहे थे। कुमार वर्धमान ! इन्द्रगज को वश में कर लिया !... किस भाँति···उन्हें कोई चोट तो नहीं आई···? (**गिरिसेन से**) शीघ्र पूरी सूचना प्राप्त करो।

गिरिसेन : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

सिद्धार्थ : (**टहलते हुए सोचते हैं**) इन्द्रगज तो भयानक होगा···और मुक्त हुआ गज किसी के भी प्राण ले सकता है। उसे कुमार वर्धमान ने··· वर्धमान ने वश में कर लिया ? किस भाँति ? कैसे···?

(उसी क्षण प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी : सम्राट् की जय ! क्षत्रिय कुमार विजय और सुमित्र द्वार पर हैं।

सिद्धार्थ : वे भी तो कुमार वर्धमान के साथ लक्ष्य-वेध के लिए अभ्यास करते थे।···उनसे पूरी सूचना मिलेगी। (**प्रतिहारी से**) उन्हें शीघ्र ही भेजो।

प्रतिहारी : (**सिर झुका कर**) जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

सिद्धार्थ : (**सोचते हुए**) कुमार विजय और कुमार सुमित्र तो प्रातःकाल से ही कुमार वर्धमान के साथ क्रीड़ा-वन में चले गये होंगे। वे तो निरन्तर कुमार के साथ रहते हैं। इन्द्रगज को वश में करने में संभवतः उन्होंने कुमार की सहायता की हो। एक व्यक्ति से मतवाला गज कैसे वश में किया जा सकता है! फिर कुमार वर्धमान की अभी आयु ही क्या है!

(**कुमार विजय और कुमार सुमित्र का प्रवेश**)

विजय } *सुमित्र* } : (**एक साथ**) सम्राट् की जय!

सिद्धार्थ : विजय और सुमित्र! कुमार कहाँ हैं?

विजय : (**उल्लास से**) महावीर वर्धमान अभी नहीं आये, सम्राट्?

सिद्धार्थ : कहाँ हैं वे? अभी तो यहाँ नहीं आये। सुनता हूँ कि उन्होंने इन्द्रगज को—उस मतवाले इन्द्रगज को वश में कर लिया?

सुमित्र : न केवल इन्द्रगज को वरन् सर्प को भी।

सिद्धार्थ : (**आश्चर्य से**) सर्प को भी? यह सर्प कहाँ था? और सर्प की बात कैसी? बड़ी विचित्र बातें सुना रहे हो। इन्द्रगज को और सर्प को वश में कर लिया!

विजय : हाँ, सम्राट्! सर्प को भी।

सुमित्र : हाँ, सम्राट्! वे कुमार वर्धमान नहीं, महावीर वर्धमान हैं।

विजय : सम्राट्! जिस समय इन्द्रगज क्रोध से निरीह जनों को कुचलता हुआ आ रहा था महावीर वर्धमान दोनों हाथ फैला कर उसके सामने खड़े हो गये।

सिद्धार्थ : (**कुतूहल से**) सामने···सामने खड़े हो गये!

विजय : हाँ, सम्राट्! सामने खड़े हो गये। हाथी ने चिंघाड़ते हुए जब अपनी

सूंड़ उनके सामने बढ़ायी तो कुमार को उसके क्रोध पर हँसी आ गई। उन्होंने विद्युत गति से उस सूंड़ पर पैर रख कर उसके मस्तक पर आसन जमा लिया। फिर पैरों से उसका गला दबा कर उसके कानों को न जाने किस तरह सहलाया कि जो हाथी भूकम्प की तरह धरती को हिला रहा था, वह पहाड़ की तरह अचल हो गया।

सुमित्र : और सम्राट् ! उसी अवस्था में उसने अपनी सूंड़ उठा कर महावीर कुमार को झूमते हुए प्रणाम किया।

सिद्धार्थ : धन्य है, मेरा कुमार वर्धमान ! (**हर्ष से गद्गद् हो जाते हैं।**)

विजय : तभी गजाध्यक्ष पीछे से दौड़ता हुआ आया। कुमार ने उसे हाथी सौंप दिया और वे हम लोगों के पास चले आये।

सुमित्र : फिर हम लोग जैसे ही आपकी सेवा में आ रहे थे, एक वट-वृक्ष के तने से निकल कर एक भयंकर सर्प हम लोगों की ओर झपटा। हम लोग डर गये किन्तु कुमार निर्भीक होकर खड़े रहे। उन्होंने आगे बढ़ कर उसकी पूंछ पकड़ी और उसे घुमा कर दूर फेंक दिया। कुमार इतने तेजस्वी ज्ञात होते हैं, सम्राट् ! कि उनके सामने भयानक से भयानक जीव भी निर्जीव-सा हो जाता है।

सिद्धार्थ : साधु ! यह सब भगवान् पार्श्वनाथ की कृपा है। उन्हीं की कृपा ने उन्हें इतना तेजस्वी बना दिया होगा। किन्तु इस समय कुमार वर्धमान कहाँ हैं ?

विजय : हम तो समझते थे कि वे आपकी सेवा में आये होंगे।

सिद्धार्थ : नहीं, वे अभी तक तो यहाँ नहीं आये। फिर वे इतने शालीन हैं कि अपने द्वारा किये गये कार्यों की न वे प्रशंसा करते हैं और न सुनना चाहते हैं। मैं तो स्वयं उनके सम्बन्ध में चिन्तित हूँ।

सुमित्र : तो वे फिर अपने कक्ष में होंगे। यह सत्य है, सम्राट् ! कि वे वीरता-पूर्ण कार्य करके भी निस्पृह और निर्विकार बने रहते हैं। जय-घोष सुन कर भी उनके ओंठों पर मुस्कान तक नहीं आई। तो हम लोग उन्हें आपकी सेवा में भेजें ?

सिद्धार्थ : हाँ, मैं उन्हें देखना चाहता हूँ। किन्तु इसके पूर्व इतनी शुभ सूचना देने पर अपना पुरस्कार तो लेते जाओ।

(गले से मोतियों की माला उतारते हैं।)

विजय : इसकी आवश्यकता नहीं है, सम्राट् !

सुमित्र : हम लोग तो इतने से ही कृतार्थ हैं कि महावीर वर्धमान के साहचर्य का सौभाग्य हम लोगों को प्राप्त है।

सिद्धार्थ : फिर भी मेरी प्रसन्नता का उपहार तो तुम्हें लेना ही पड़ेगा।

(सम्राट् सिद्धार्थ प्रत्येक को एक-एक माला देते हैं।)

दोनों : (**माला लेकर एक साथ**) सम्राट् की जय ! वीर वर्धमान की जय !

(प्रस्थान)

सिद्धार्थ : कितनी शुभ सूचना है ! मेरे कुमार की वीरता की।······तो कुमार वर्धमान अब महावीर वर्धमान हैं, महावीर वर्धमान ! महारानी यह जानती हैं या नहीं ? भले ही वर्धमान महावीर हैं पर उनके तो कुमार हैं। उन्हें कुमार की वीरता की सूचना दूं । (**पुकार कर**) प्रतिहारी !

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी : (**सिर झुका कर**) सम्राट् की जय !

सिद्धार्थ : प्रतिहारी ! महारानी त्रिशला को यहाँ आने की सूचना दो।

प्रतिहारी : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

सिद्धार्थ : (स्वगत) धन्य ! धन्य कुमार वर्धमान ! नहीं (ज़ोर देकर) महावीर वर्धमान ! मैं तुम्हारा पिता होकर अपना महान् भाग्य समझता हूँ। (प्रभु पार्श्वनाथ के चित्र के समीप जाकर) प्रभु पार्श्वनाथ ! तुम्हारी इतनी कृपा मुझ पर है कि मैं महावीर वर्धमान का पिता बनूं। कहाँ ऐरावत की भाँति शक्तिशाली इन्द्रगज और कहाँ कुमार वर्धमान ! किन्तु कुमार ने इन्द्रगज को वश में कर लिया। और वह भयानक सर्प ! उसे फूल की माला की भाँति उठा कर दूर फेंक दिया। (सिर झुकाकर) प्रभु पार्श्वनाथ ! यह सब तुम्हारी कृपा है। (हाथ जोड़ते हैं।)

(महारानी त्रिशला का आगमन।)

त्रिशला : महाराज की जय !

सिद्धार्थ : (उल्लास से) ओ, त्रिशला ! सुनो, सुनो—तुम्हारे वर्धमान ने··· तुम्हारे कुमार ने किस साहस के साथ इन्द्रगज को वश में किया··· हाँ, इन्द्रगज को···और सर्प को···भयंकर सर्प को इस वेग से ऊपर फेंका कि वह आकाश···हाँ, आकाश में ही रह गया।···तुम्हारे वर्धमान···तुम्हारे कुमार······

त्रिशला : हाँ, महाराज ! मैंने अभी-अभी यह समाचार सुना। परन्तु कुमार हैं कहाँ ? सोचती थी कहीं आपके पास न हों। मैं आपके पास आने ही वाली थी कि आपका सन्देश मिला।

सिद्धार्थ : नहीं, अभी तो यहाँ नहीं आये। मैं स्वयं उन्हें देखने के लिए उत्सुक हूँ।

त्रिशला : जाने कहाँ होंगे। सारे नागरिक उनके चारों ओर एकत्रित होंगे। मुझे तो भय है उनकी वीरता पर किसी की कुदृष्टि न लग जाय।

सिद्धार्थ : माँ के हृदय में यह आशंका स्वाभाविक है किन्तु हमारे वैशाली राज्य में किसी की दृष्टि ऐसी नहीं है कि कुमार का कुछ अनिष्ट हो । बात तो इसके विपरीत है कि कुमार की दृष्टि से अपशकुन भी शकुन बन जाते हैं, क्रोधी भी शान्त हो जाते हैं और विष भी अमृत बन जाता है ।

त्रिशला : महाराज ! यह तो मैंने तभी जान लिया था जब कुमार का जन्म हुआ था । इसके पूर्व मैंने जो गजराज, वृषभ, सिंह, स्नान करती हुई लक्ष्मी आदि के सोलह स्वप्न देखे थे तो आपके ज्योतिषी ने स्वप्न विचार कर स्वयं कहा था कि मेरा पुत्र धर्म-धुरंधर और अपार शक्ति धारण करने वाला होगा ।

सिद्धार्थ : हाँ, मुझे स्मरण है । ज्योतिषी ने यह भी कहा था कि तुम्हारा कुमार सभी का स्नेह पाकर संसार भर में प्रसिद्ध होगा । उसके उत्पन्न होते ही जो राज्य-वैभव की वृद्धि हुई थी, इसी कारण मैंने उसका नाम 'वर्धमान' रखा था ।

त्रिशला : तो क्या उसके नाम के अनुरूप उसके परिवार की वृद्धि भी होगी ?

सिद्धार्थ : अवश्य होगी, इसमें भी क्या सन्देह है ?

त्रिशला : मुझे बहुत बड़ा सन्देह है ।

सिद्धार्थ : सन्देह का कारण ? क्या तुम्हारा संकेत कुमार के विवाह की ओर है ?

त्रिशला : हाँ, न जाने कितने दिनों से यह अभिलाषा मैं अपने मन में सँजोये हुए हूँ । किन्तु···

सिद्धार्थ : (प्रश्न-सूचक मुद्रा में) किन्तु··· ?

त्रिशला : कुमार की रुचि इस ओर नहीं है । वे एकान्त में बैठे हुए न जाने क्या-क्या सोचा करते हैं । मैंने जब कभी उनसे इस सम्बन्ध में चर्चा

की है, उनकी मुख-मुद्रा गंभीर हो उठी है और वे मेरे पास से उठ कर चले गये हैं।

सिद्धार्थ : हाँ, उनके साथियों से भी मुझे ऐसी सूचना मिली है। वे तो किसी स्त्री की ओर देखते भी नहीं।

त्रिशला : मेरी ममता न जाने कहाँ-कहाँ पंख लगा कर उड़ती है। मैं अपनी पलकें बन्द करती हूँ तो न जाने कितनी सुकुमारियों के रूप उभरते हैं जो मेरी पुत्र-वधू बनने के लिए उत्सुक दीख पड़ती हैं किन्तु कुमार वर्धमान की वीतरागी दृष्टि के समक्ष सब कपूर की भाँति उड़ जाती हैं।

सिद्धार्थ : मेरे पास भी न जाने कितने नरेश अपनी पुत्रियों के चित्र भेजते हैं। मैं उन चित्रों को कुमार वर्धमान के समीप पहुँचा देता हूँ किन्तु मुझे किसी प्रकार का उत्तर नहीं मिलता। लगता है जैसे मधुर से मधुर संगीत के स्वर दिशाओं की गहराई में डूब गये हैं और कोई प्रतिध्वनि लौट कर उस संगीत का संकेत भी नहीं देती।

त्रिशला : मेरा वात्सल्य भी जैसे इन्द्रधनुष की भाँति निराधार है। (**गहरी साँस**)

(गंभीर मुद्रा में कुमार वर्धमान का प्रवेश)

वर्धमान : माता पिता के श्री-चरणों में प्रणाम ! (**मस्तक झुकाते हैं।**)

सिद्धार्थ : (**हाथ उठाकर**) स्वस्ति ! विजयी बनो !

त्रिशला : मेरे कुमार ! आओ मेरे पास ! (**आगे बढ़ती हैं।**) तुम सदैव सुखी रहो ! अभी-अभी सुना कि तुमने इन्द्रगज जैसे मतवाले हाथी को वश में कर लिया और सर्प को उठा कर दूर उछाल दिया।

सिद्धार्थ : आज तुम्हारी वीरता की प्रशंसा सारा कुंडग्राम एक कंठ से कर रहा है। हमारे वंश में तुम जैसा वीर कुमार आज तक नहीं हुआ।

त्रिशला : अभी तो मेरा कुमार संसार को चकित कर देने वाला कार्य करेगा।

वर्धमान : यह आपका अमोघ वात्सल्य है, माँ !

सिद्धार्थ : तुम्हारे साथी तुम्हारी निर्भीकता की प्रशंसा कर रहे थे और कह रहे थे कि तुम कुमार वर्धमान नहीं, महावीर वर्धमान हो।

वर्धमान : यह आपका आशीर्वाद है, पिताजी !

त्रिशला : कुमार ! इन सब वीरतापूर्ण कार्यों के करने में तुम्हें कोई चोट तो नहीं लगी ?

वर्धमान : आपके आशीर्वाद का कवच भी तो मेरे शरीर पर है, माँ ! उससे मैं सभी तरह से सुरक्षित हूँ।

सिद्धार्थ : मुझे तुम पर अभिमान है, कुमार ! चलो, तुम्हारी कुशलता और भावी उन्नति के लिए आज हम प्रभु पार्श्वनाथ जी का पूजन करेंगे।

वर्धमान : जैसी आपकी आज्ञा।

(**सिर झुका कर प्रणाम करते हैं। सब का प्रस्थान**)

[**परदा गिरता है।**]

तीसरा अंक

(परदा उठने के पूर्व नेपथ्य से चर्या-पाठ)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया नो वि अन्नं वयावए ।।

(दशवैकालिक ६-१२)

[अर्थात् स्वयं के लिए अथवा दूसरों के लिए, क्रोध अथवा भय से दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला असत्य वचन, न तो स्वयं बोलना चाहिए और न दूसरों से बुलवाना चाहिए ।]

इस अंक में पात्र (प्रवेशानुसार)

१—त्रिशला

२—सुनीता

३·—वर्धमान

४—सिद्धार्थ

५—परिचारिका

[स्थान : महारानी त्रिशला का शृंगार-कक्ष

समय : संध्या-काल

स्थिति : यह शृंगार-कक्ष राजसी वस्त्रों से सजा हुआ है। कक्ष में अनेक कला-कृतियाँ, पाट वस्त्रों से सुसज्जित आसंदिकाएँ। बीच में एक मखमली कालीन और ज़री से कढ़ा हुआ तकिया। इस समय महारानी त्रिशला कालीन पर बैठी हुई अनेक छाया-चित्रों का अवलोकन कर रही हैं। कुछ चित्र उनके दाएँ-बाएँ रखे हुए हैं। एक चित्र का गहराई से अवलोकन करते हुए कहती हैं :]

त्रिशला : तो ये कौशल कुमारी हैं ! सुन्दर तो बहुत हैं किन्तु लगता है प्रभात-कालीन उषा को हिम-राशि ने धूमिल कर दिया है। **(पुकार कर)** सुनीता !

(नेपथ्य से—आई, महारानी !)

त्रिशला : अरे, मैं अपने कुमार वर्धमान के लिए एक सुन्दर पत्नी का चयन करने में लगी हूँ और तू न जाने कहाँ है।

सुनीता : **(मंच पर आकर)** महारानी की जय ! सेवा में उपस्थित हूँ।

त्रिशला : देख, ये कितने बहुत-से चित्र हैं। न जाने कहाँ-कहाँ की राजकुमारियाँ हैं। कोई छोटी है, कोई बड़ी है, कोई भोली दीखती है और कोई

मान करने की मुद्रा में है। चित्रकार ने तो सभी को गौर वर्ण का बना दिया है। तू मेरी कुछ भी सहायता नहीं करती।

सुनीता : (**मुस्करा कर**) महारानी ! पुत्र-वधू तो आपको चाहिए। आपकी रुचि ही प्रधान है।

त्रिशला : यह तो ठीक है किन्तु तेरी सम्मति भी तो चाहिए। कभी तुझे भी अपनी पुत्र-वधू का चयन करना होगा।

सुनीता : (**संकुचित स्वरों में**) अभी तो, महारानी ! पुत्र भी नहीं है।

त्रिशला : तो हो जायगा, जल्दी क्या है ! पुत्र भी होगा और पुत्र-वधू के आने का भी अवसर मिलेगा। (**एक चित्र उठा कर**) अच्छा, बतला यह चित्र कैसा है ? ये मारुकच्छ की सुन्दरी हैं।

सुनीता : महारानी ! ये तो कच्छप की तरह अपना सिर पीछे खींचे हुए हैं और आँखें तो ऐसी हैं जैसे किसी तट की ओर देख रही हैं।

त्रिशला : इन्हें तट की ओर नहीं, राजमहल की ओर देखना चाहिए। (**दूसरा चित्र उठा कर**) अच्छा, इसे देख ! ये हैं—मल्ल राजवंश की कन्या। कैसी हैं ?

सुनीता : महारानी ! ज्ञात होता है जैसे ये मल्ल-युद्ध करने के लिए अपना दाँव देख रही हैं। इनके आने पर तो अन्तःपुर में मल्ल-क्रीड़ा आरम्भ हो जायगी।

त्रिशला : मेरा कुमार तो सदैव संन्यास की बातें करता है। वह मल्ल-युद्ध में क्या रुचि लेगा ! भले ही वह मस्त हाथियों को अपने वश में कर ले। अच्छा, देख ! यह तीसरा चित्र है—अवन्ति कुमारी का।

सुनीता : अवन्ति कुमारी का ? अच्छा तो है किन्तु ऐसा न हो कि यह अपने राज्य की तो उन्नति करे और हमारे राज्य की अवनति कराना

आरम्भ कर दे। अवन्ति कुमारी है न? सुन्दर अवश्य है किन्तु ऐसी सुन्दरता भी क्या जो मन के भाव प्रकट न कर सके।

त्रिशला : इन तीनों में तो यही अच्छी है। अच्छा, इस चौथे चित्र को देख! ये कुक्कुट नरेश की राजपुत्री हैं।

सुनीता : (**देख कर**) कुक्कुट नरेश की? इनको कहीं दाना नहीं मिल रहा है। ये किसी नगर-वधू को अपदस्थ कर सकती हैं।

त्रिशला : नगर-वधू? इस राजकुल में कोई नगर-वधू? सुनीता! सावधान! ऐसे शब्द मुख से निकालती है? अच्छा, इन चम्पा कुमारी जी को देखो!

सुनीता : महारानी! यह चित्र सब से सुन्दर है। नासिका उठी हुई, नेत्रों में शील, ओंठ जैसे मधु-वर्षण के लिए खुलने ही वाले हैं।

त्रिशला : इसे अलग रख लेती हूँ। (**वह चित्र अलग रखती है।**) अच्छा, ये मंडलेश्वर की पुत्री हैं। इन्हें देखो!

सुनीता : ये भी अच्छी हैं, महारानी! इनके मुख के चारों ओर जो ज्योति-मण्डल है उससे ज्ञात होता है कि ये शची की पुत्री जयंती हैं। मानवी में देवी। इन्हें भी अलग रख लीजिए, स्वामिनी!

त्रिशला : अच्छी बात है। (**उस चित्र को भी अलग रखती हैं।**) आहा, इन्हें देख! (**एक चित्र उठाते हुए**) ये कलिंग-कन्या हैं, शत्रुजित् की पुत्री।

सुनीता : साधु! ये तो सभी राजकुमारियों में श्रेष्ठ हैं, महारानी! आहा! ऐसा लगता है कि यदि प्रतिपदा का चन्द्र इनके सौन्दर्य की कलाओं को धारण कर ले तो वह पूर्णिमा का चन्द्र बन जायगा। नेत्र इतने सौम्य हैं कि लगता है इनके चारों ओर श्वेत कमल की वर्षा हो

रही है। इनकी किंचित् मुस्कान ऐसी लगती है जैसे हँसी मुख के भीतर जाकर लौट रही है। महारानी ! राजकुमारी पूर्ण रूप से हमारे कुमार के अनुरूप हैं।

त्रिशला : (**उठ कर**) मैं भी ऐसा सोचती हूँ। प्रातःकाल मैं इस चित्र को बहुत देर तक देखती रही। लगता था जैसे प्रभात का प्रकाश इसी चित्र से निकल रहा है। ज्ञात होता है, कलिंग के तटवर्ती सागर की तरंगों ने इसके केशों को सँवारा है। इसके मस्तक की शोभा में चन्द्र भी आधा हो गया है। इसकी नासिका की रेखा क्षितिज-रेखा की भाँति सुन्दरता के साथ झुकी हुई है और नेत्र ? नेत्र तो बड़े ही सुन्दर हैं, जैसे सुख और सन्तोष ही तरुण कमल की अधखुली पंखुड़ियाँ बन गये हैं। यह वास्तव में मेरी पुत्र-वधू बनने के योग्य है। नीचे नाम भी लिखा हुआ है। पढ़ूं ? य...शो...दा, यशोदा। कलिंग-पुत्री होकर भी समस्त शूरसेन राज्य की सुषमा समेटे हुए है।

(धीरे-धीरे कुमार वर्धमान का प्रवेश)

सुनीता : कुमार की जय !

त्रिशला : (**चौंक कर देखते हुए**) कुमार ? आओ, आओ, तुम्हारे ही सम्बन्ध में सोच रही थी।

वर्धमान : शूरसेन राज्य की सुषमा कौन समेटे हुए है, माँ ?

त्रिशला : (**मुस्करा कर**) तो तुमने सुन लिया ? सुषमा समेटने वाली है—मेरे वर्तमान की लता में भविष्य की कलिका, जिसमें रूप हँसता है, रंग हँसता है और सुगन्ध बार-बार मुस्करा जाती है।

वर्धमान : तुम तो कविता में बात करती हो, माँ ! स्पष्ट कहो।

त्रिशला : तुमने इतनी विद्या पढ़ी है। तुम पशु-पक्षियों की भाषा भी समझ सकते हो। कविता की मेरी भाषा नहीं समझते ? देखो, मैं अपने इस

शृंगार-कक्ष को इन चित्रों में जो सबसे सुन्दर है, उससे सुसज्जित करना चाहती हूँ।

वर्धमान : इस शृंगार-कक्ष में तो पहले से ही एक से एक सुन्दर चित्र सजे हैं। एक चित्र से और क्या शोभा बढ़ जायगी ?

त्रिशला : (**सुनीता से**) सुनीता ! तू जा। मैं अपने बेटे से अपनी बातें कहना चाहती हूँ।

सुनीता : जैसी आज्ञा। महारानी की जय ! कुमार की जय ! (**प्रस्थान**)

वर्धमान : सुनीता को बाहर क्यों भेज दिया ?

त्रिशला : मेरे और मेरे बेटे के बीच बातें सुनने की अधिकारिणी कोई सेविका नहीं हो सकती।

वर्धमान : तो ऐसी कौन-सी बात है, माँ !

त्रिशला : वही जो मैं अभी तुमसे कहने जा रही थी।

वर्धमान : तुम तो चित्रों की बात कर रही थी, माँ !

त्रिशला : हाँ, जिस चित्र की बात कर रही थी वह चित्र कक्ष में लगे हुए सभी चित्रों से सुन्दर और आकर्षक होगा और सबसे बड़ी बात यह होगी कि वह चित्र सजीव होगा जिसके स्वरों से यह कक्ष मुखरित होगा।

वर्धमान : (**हँस कर**) ओह ! अब समझा, माँ ! किन्तु माँ, ये सारे चित्र नश्वर हैं। एक दिन सब नष्ट हो जाने वाले हैं और सजीव चित्र तो निर्जीव चित्रों से भी पहले रूप-रंग में नष्ट हो जाते हैं।

त्रिशला : इस शृंगार-कक्ष में वैराग्य की ये बातें शोभा नहीं देतीं। यह तो कुछ ऐसा ही है जैसे किसी शृंगार-मंजूषा में सर्प निवास करने लगे।

वर्धमान : इस शरीर को भी संसार के लोग रत्न-मंजूषा ही कहते हैं किन्तु इसमें पाँच इन्द्रियों के पाँच सर्प निवास करते हैं।

त्रिशला : तेरा ज्ञान तो अभी से संन्यासियों का उदान बन गया है। उस ज्ञान के आचरण का समय भी आयेगा किन्तु प्रभात प्रभात ही होगा, सूर्योदय में मध्याह्न की कल्पना करना समय का अपमान करना है।

वर्धमान : असीम धर्म में समय की स्थितियाँ नहीं होतीं, माँ !

त्रिशला : देख, बेटे ! मैं तुझ से शास्त्रार्थ नहीं करना चाहती। अपनी ममता और लालसा के छन्दों से अपना कंठ मुखरित करना चाहती हूँ। चाहती हूँ कि इस कक्ष के ये मूक और निरुपाय क्षण किन्हीं नूपुरों का संगीत अपने हृदय में भर कर समस्त संसार को गुंजित कर दें।

वर्धमान : माँ ! तुम्हारी स्नेह-धारा स्निग्ध और तरल है किन्तु मुझे भय है कि इससे अभिलाषाओं की आग बुझती नहीं है, और भी उग्र हो जाती है।

त्रिशला : इन्हीं अभिलाषाओं से संसार गतिशील होता है, मेरे बेटे ! अच्छा, इधर देख, **(यशोदा का चित्र उठाते हुए)** यह चित्र मुझे सबसे अधिक अच्छा लग रहा है। देख, कितनी सुन्दर आँखें हैं, जैसे कामदेव की अंजुलि में रखे हुए दो पुष्प हैं, नासिका देख जैसे किसी ने मर्यादा की पतली रेखा खींच कर उसे उठा दी है। ओंठ तो ऐसे हैं जैसे माधुर्य के दो किनारे हों जिनके बीच वाणी की भागीरथी बहती है। स्वभाव में, शील में, व्यवहार में शची है, कलिंग कुमारी के रूप में अवतरित हुई है। नाम है यशोदा—यशोदा। तूने पूछा था न ? शूरसेन राज्य की सुषमा कौन समेटे हुए है ? वह यही कलिंग कुमारी यशोदा है। इसके साथ मैं तेरा विवाह करना चाहती हूँ।

(वर्धमान चुप रहते हैं।)

त्रिशला : बहुत दिनों की लालसा तेरे सामने रख रही हूँ।

(वर्धमान फिर चुप रहते हैं।)

त्रिशला : चुप क्यों हो, बेटे ? क्या माँ का वात्सल्य तुम्हारे मौन से लांछित नहीं होता ?

वर्धमान : माँ ! क्या तुम्हारा वात्सल्य केवल विवाह की वेदी का एक फूल मात्र है ? तुम्हारे वात्सल्य की माला में तो अनेक फूल हैं, फिर इसी फूल को इतना महत्त्व क्यों देती हो ?

त्रिशला : मेरे वात्सल्य का प्रत्येक फूल समान है किन्तु माला में फूलों की स्थिति भी तो महत्त्व रखती है। विवाह वही फूल है जिसकी स्थिति में माला की शोभा और उसका शृंगार है।

वर्धमान : माँ ! वात्सल्य के फूलों को बिखरा हुआ ही रहने दो, उसकी माला मत बनाओ।

त्रिशला : (प्रश्न-सूचक मुद्रा में) तात्पर्य ?

वर्धमान : यदि मैं विवाह न करूँ तो संसार की क्या हानि होगी ?

त्रिशला : संसार की कुछ हानि नहीं होगी, मेरी होगी। और मेरा बेटा मेरी हानि कभी नहीं करेगा।

वर्धमान : आपका बेटा आपकी हानि तो कभी कर ही नहीं सकता। किन्तु हानि हो ही कहाँ रही है ?

त्रिशला : तू माँ नहीं है, इसलिए पुत्र-वधू की लालसा समझ ही नहीं सकता। तेरे साथ के जितने क्षत्रिय कुमार थे, सब के विवाह हो गये। सब की माताओं ने अपनी मनचाही पुत्र-वधुएँ प्राप्त कर लीं। आज उनके भवन उल्लास और आनन्द से गूंज रहे हैं। एक हमारा भवन है जिसमें शिशिर का सन्नाटा छाया हुआ है। तेरा विवाह तो अभी तक हो जाना चाहिए था। वह तो मुझे मेरे योग्य कोई कुल-वधू नहीं मिल रही थी। इसीलिए तेरा विवाह अभी तक रुका रहा। अब तेरे योग्य एक सुन्दर, सुशील और तेरे यश के अनुरूप कुल-वधू मैंने पा ली है, तो तू कहता है कि मैं विवाह नहीं करूँगा।

वर्धमान : हाँ, माँ ! मैं विवाह नहीं करना चाहता ।

त्रिशला : फिर इस राजवंश की मर्यादा कैसे रहेगी ?

वर्धमान : अच्छी रहेगी । मेरे बड़े भाई नन्दिवर्धन हैं, बहिन सुदर्शना है, चाचा सुपार्श्व हैं । इनसे राजवंश का विकास होगा । मेरे पिता स्वयं एक चम्पक वृक्ष के समान हरे-भरे हैं और यश-सौरभ से सम्पन्न हैं ।

त्रिशला : यह सब तो ठीक है किन्तु पाटल-लता के एक या दो पुष्पों से उसकी शोभा नहीं होती । उसके सभी वृन्त पुष्पों से परिपूर्ण रहें, तभी उसकी शोभा होती है ।

वर्धमान : क्या संसार में शोभा भी स्थायी रहती है, माँ ? यह शोभा उसी प्रकार अवनति को प्राप्त होती है जैसे कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा क्षीण होता जाता है । मैं ऐसी शोभा से प्रभावित नहीं हूँ ।

त्रिशला : तेरा ज्ञान मेरी ममता से उतनी ही दूर है जितना आकाश पृथ्वी से है । तू माँ के संस्कारों से अपरिचित है, बेटे !

वर्धमान : संस्कार चंचल है, परिवर्तनशील है, माँ ! महासमुद्र की तरंगों की भाँति मृत्यु हमें वश में कर लेती है और संसार देखता रहता है । संस्कारों से अधिक स्मृतिमान धारणा कहीं श्रेष्ठ है ।

त्रिशला : तो तू विवाह नहीं करेगा ?

वर्धमान : नहीं माँ ! विवाह नहीं करना चाहता । सारथी द्वारा दमन किये अश्व की भाँति मेरी प्रवृत्तियाँ मेरे वश में हैं । अभिमान-रहित, आश्रव-रहित, अविचलित मेरी स्पृहा है । भाँति-भाँति के आकर्षण नक्षत्रों की भाँति जगमगाते हैं किन्तु यह रात्रि का ही विस्तार है । यह सोने के लिए नहीं है । मैं इसमें जागते रहना चाहता हूँ ।

त्रिशला : (व्यंग्य से) और मैं शयन कर रही हूँ । इन आकर्षण के नक्षत्रों को मैंने अपने स्वप्नों में उतार लिया है और उन स्वप्नों में अपनी रात

बिता रही हूँ, क्यों न ? यही तो तू कहता है किन्तु यह नहीं जानता कि इन वाक्यों से माँ का अपमान होता है।

वर्धमान : अपमान कैसा, माँ ! मान और अपमान तो शीत और उष्ण की भाँति हैं। ये तो इन्द्रियों के विकार हैं, तृण से भी तुच्छ हैं। योग-क्षेम के लिए हमें कुशलता से जीवन व्यतीत करना चाहिए।

त्रिशला : हम लोगों का जीवन कुशलता से व्यतीत नहीं हो रहा है, यह कौन कहेगा ? तुझ से अधिक जानने वाला तो कोई है नहीं। राज्य में पूरी शान्ति, प्रजा का संतोष, राजमहल में सुख-सुविधा की सम्पूर्ण सामग्री और इस सब के साथ स्वामी पार्श्वनाथ की पूजा। कुशलता से जीवन व्यतीत करना और किसे कहते हैं ? पर तेरा ज्ञान ही दूसरा है। और वैसा ज्ञान तो मुझ में है नहीं। पर तेरी जननी होने का सौभाग्य मुझे अवश्य प्राप्त है। न जाने कब से मैं तेरे विवाह की आस लगाये हुए हूँ। ऐसी न जाने कितनी कन्याएँ हैं जो नख से शिख तक सुन्दर हैं, सभी गुणों से सम्पन्न हैं, और तेरी सेवा के लिए लालायित हैं। फिर यह यशोदा तो अपने शील, लज्जा और लावण्य से तो रति को भी लज्जित करती है। इसकी वरमाला स्वीकार कर इसे अवश्य कृतकृत्य होना चाहिए।

वर्धमान : माँ ! स्वयं रति भी मुझ से विवाह का प्रस्ताव करे तो मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा। ऐसा मेरा निश्चय है। मैं विवश हूँ, माँ ! मेरे निश्चय से तुम्हारी आज्ञा टल रही है। तुम्हारी अभिलाषा निर्गन्ध पुष्प की भाँति मेरे विचारों की ऊष्मा से मुरझा रही है। क्या इसके लिए तुम मुझे क्षमा नहीं करोगी ? क्षमा कर दो न, माँ !

त्रिशला : क्षमा ? पुत्र के बड़े से बड़े अपराध पर जननी क्षमा नहीं करेगी तो और क्या करेगी ? और अब मेरी आयु ही कितनी शेष रह गई है ! चाहती थी कि इन आँखों से अपने बेटे के कंठ में वरमाला पड़ते देखती

मेरा आँगन मंगल घटों से सजाया जाता। दीप-माला से नगर की वीथियाँ जगमगा उठतीं, सारे कुंडग्राम में बन्दनवार इन्द्रधनुषों की भाँति सुशोभित होते। नगर-नारियाँ अपने झरोखों और वातायनों से मेरे सुन्दर बेटे की वर-यात्रा देखतीं पर··· **(भरे हुए कंठ से)** अब··· अब यह कुछ नहीं होगा···कुछ नहीं होगा। अच्छा है, बेटे! ···अब मैं अपनी अधूरी साध लिये हुए ही मर जाऊँगी···मर जाऊँगी···

(आँखों में आँसू और हल्की-सी सिसकियाँ। त्रिशला अपना मुख वस्त्रों में छिपा लेती हैं।)

(नेपथ्य में : सम्राट् की जय!

सम्राट् की जय!

सम्राट् की जय!)

वर्धमान : माँ! पिता जी आ रहे हैं। तुम रो रही हो? माँ! पिता जी इस कक्ष में आ रहे हैं।

(त्रिशला अपना शिरो-वस्त्र सम्हाल लेती हैं, वर्धमान सजग हो जाते हैं। महाराज सिद्धार्थ प्रवेश करते हैं, वर्धमान प्रणाम करते हैं।)

सिद्धार्थ : महारानी त्रिशला और कुमार वर्धमान यहीं हैं। **(त्रिशला को देख कर)** अरे, महारानी? तुम्हारी आँखों में आँसू!

वर्धमान : पिता जी! मैंने माँ का अपमान कर दिया।

सिद्धार्थ : तुम कभी स्वप्न में भी अपनी माँ का अपमान नहीं कर सकते। कोई दूसरी बात होगी। कहो त्रिशला! क्या बात है?

वर्धमान : पिता जी! ये मेरे विवाह की चर्चा कर रही थीं और मैंने इसे स्वीकार नहीं किया। मुझे क्षमा कर दें! मेरी इन्हीं बातों से माँ का अपमान हो गया। माँ, तुम भी मुझे क्षमा कर दो!

सिद्धार्थ : त्रिशला ! शान्त हो जाओ। (**त्रिशला के कन्धे पर हाथ रखते हैं, त्रिशला और ज़ोर से सिसकने लगती हैं और सिद्धार्थ के कन्धे पर सिर रख लेती हैं।**) शान्त ! शान्त ! त्रिशला ! तुम जाकर विश्राम करो। वर्धमान से मैं बातें करूँगा।

(**त्रिशला सिसकते हुए भीतर चली जाती हैं।**)

सिद्धार्थ : (**वर्धमान को देख कर**) तो तुमने विवाह का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। क्या तुम माँ की ममता नहीं जानते, वर्धमान ? माँ का हृदय एक सरोवर है जिसमें वात्सल्य के कमल खिला करते हैं। यदि उत्तप्त वायु में वे कमल मुरझा जायँ तो क्या सरोवर की शोभा नष्ट नहीं हो जायगी ? तुम बहुत ज्ञानी हो, क्या तुम अपने ज्ञान से माँ के वात्सल्य का रूप नहीं देख सकते ?

(**वर्धमान चुप रहते हैं।**)

सिद्धार्थ : तुम चुप क्यों हो ? राजवंश में विवाह की एक स्वस्थ परम्परा है। वर के लिए अच्छी से अच्छी वधू देखी जाती है। रूप, शील, मर्यादा और वंश की पवित्रता के आधार पर दो वंश वायु की लहरों की भाँति मिलते हैं और यश की सुरभि का संचार होता है। पति और पत्नी ऐसे संसार का निर्माण करते हैं जिसके सामने स्वर्ग भी फीका पड़ जाता है और तुम यह जानते हो कि गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में श्रेष्ठ है।

वर्धमान : पिता जी ! क्षमा करें। आपकी सारी बातें नीतिसम्मत हैं किन्तु मन की प्रवृत्ति सभी आश्रमों में श्रेष्ठ है।

सिद्धार्थ : किन्तु प्रवृत्ति की अधिकारिणी तो बुद्धि है और उसके भी अधिकारी तुम हो। इस अधिकार को संगठित करने की आवश्यकता है किन्तु ज्ञात होता है कि तुम्हें यह संगठन स्वीकार नहीं है। कुछ दिनों से मैं ऐसे ही लक्षण देख रहा हूँ। तुम्हारी अवस्था मात्र तीस वर्षों की है

पर लगता है कि तुम एक सौ वीस वर्षों के हो ! मुझ से भी बड़े ! एँ ? मुझ से भी बड़े ! (मुस्कान)

वर्धमान : मेरी दृष्टि से तो इन्द्र भी आपसे बड़ा नहीं है।

सिद्धार्थ : किन्तु तुम तो हो। मेरे पास तुम्हारे विवाह के लिए न जाने कितने राजवंशों से आग्रह किये जा रहे हैं किन्तु तुम्हारे लक्षणों को देख कर मैं उन्हें अभी तक कोई उत्तर नहीं दे सका।

वर्धमान : पिता जी ! यदि आप मेरी प्रार्थना मानें तो उन्हें कोई उत्तर न दें।

सिद्धार्थ : क्यों न दूं ? तुम राजपुत्र हो, वीर हो, बुद्धिमान हो, सुन्दर हो तुम्हें इस राज्य का उत्तराधिकारी भी होना है।

वर्धमान : पिता जी ! मैं राज्य का उत्तराधिकारी नहीं होना चाहता, मैं मुक्ति का अधिकारी होना चाहता हूँ।

सिद्धार्थ : मैं यह सुनकर प्रसन्न हुआ किन्तु मुक्ति के अधिकारी होने के लिए अभी बहुत समय है। जीवन के कर्त्तव्यों के पालन करने के उपरान्त तो तुम संन्यास ले ही सकते हो। हमारे पूज्य आदिनाथ ने भी यही किया। उन्होंने सुनन्दा और सुमंगला से विवाह किये। वे पुत्र और पुत्रियों से सम्पन्न हुए। उन्होंने अनेक वर्षों तक राज्य किया, फिर कहीं जाकर अन्त में उन्होंने वैराग्य लिया। इसी प्रकार कालान्तर में तुम भी वैराग्य धारण करना किन्तु पहले अपने जीवन के धर्म को तो पूरा करो।

वर्धमान : पिता जी ! आपके तर्क के विरोध में मैं कुछ नहीं कहना चाहता किन्तु निवेदन यही है कि अब प्रभु आदिनाथ का समय कहां रहा ? उन जैसा शरीर, उन जैसी आयु और उन जैसा पौरुष अब कहां है ?

सिद्धार्थ : क्यों ? तुम्हारा पौरुष भी अद्वितीय है, कुमार ! उस दिन तुमने उस मतवाले इन्द्रगज को किस प्रकार अपने अधिकार में ले लिया था।

वह मत्त होकर निरीह जनता को कुचलता हुआ जा रहा था, और तुमने उसके सामने बढ़ कर जैसे दृष्टि-मात्र में उसका सारा दर्प और बल एक क्षण में समाप्त कर दिया। यह तुम्हारे पौरुष की विजय नहीं है तो क्या है ?

वर्धमान : पिता जी ! इसे मैं अपनी विजय नहीं मानता। यदि इन्द्रगज के स्थान पर आस्रव-रहित गज पर विजय हो तो मैं उसे अपनी विजय मानूंगा। शील, अहिंसा, त्याग और जागरूकता उस गज के पैर हों, श्रद्धा उसकी सूंड़ हो, उपेक्षा उसके दांत हों, स्मृति उसकी ग्रीवा हो, प्रज्ञा सिर हो और विवेक उसकी पूंछ हो—ऐसे गज पर विजय प्राप्त कर सकूं तो मेरी वास्तविक विजय हो !

सिद्धार्थ : तथास्तु ! ऐसा ही हो ! किन्तु अनित्य का, अनात्म का और अनासक्ति का अभ्यास करने पर ही ऐसा होगा। इसके लिए समय की आवश्यकता है और तब तक मेरी इच्छा है कि तुम राज-परिवार के कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए विवाह करो और प्रजा-पालन करते हुए उसकी रक्षा करो।

वर्धमान : पिता जी ! आपके आदेशों के विपरीत जाने का तो मुझे अधिकार नहीं है किन्तु मेरी दृष्टि में प्रजा की रक्षा करने के बदले यदि मानव-मात्र की रक्षा की जाय तो अधिक उचित होगा। आप देखते हैं कि आज के युग में जातिवाद की विडंबना मानवता को पीस रही है, शूद्रों के साथ पशुवत् व्यवहार होता है और धर्म के नाम पर हिंसा और यज्ञों में पशु-बलि की इतनी अधिकता हो गई है कि रक्त की धाराओं से नदियों का पानी भी लाल हो गया है। निरीह पशुओं को काट कर उनके चर्म एक नदी में इतने डाले गये कि उसका नाम ही चर्मवती हो गया। पशुओं का मांस होम करने से जो धुआं उठ रहा है उससे यह आकाश भी अपवित्र हो रहा है।

सिद्धार्थ : तुम्हारा कथन सत्य है, कुमार !

वर्धमान : तो पिता जी ! मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं इस राजमहल में ही सीमित न रहूँ, उसके बाहर जाकर मानव-धर्म का पालन करूँ। हमारे प्रभु पार्श्वनाथ ने जिस अहिंसा का आख्यान किया है आज वह कहाँ है ? वैदिक धर्म तो प्रत्यक्ष हिंसा का धर्म बन गया है। ये अश्वमेध—गोमेध यज्ञ क्या हैं ? हिंसा के—मांस-भक्षण के साधन बन गये हैं। वेद-मंत्र यज्ञकर्मियों की क्रीड़ा के कन्दुक बन गये हैं। दूर-दूर तक आकाश में उछालते हैं और झेलते हैं। उन कन्दुकों में अहंकार की वायु भरी गई है। पशु बलि करने वाले कहते हैं—वैदिकी हिंसा हिंसा नहीं है किन्तु उस हिंसा से न जाने कितने निरपराध और निरीह पशुओं के प्राणों की हानि हो रही है। यज्ञ-स्तंभ के नीचे छटपटाते हुए पशुओं का चीत्कार कितना करुण है ! मुझे लगता है कि अपनी प्राण-रक्षा के लिए वे मुझे पुकार रहे हैं।

सिद्धार्थ : वास्तव में स्थिति यही है। मुझे भी लगता है कि इन यज्ञों में आमंत्रित देवता भी मांस-भक्षी हो गये हैं और रक्त से ही उनकी प्यास बुझती है। जिसे ये यज्ञ-कर्मी जगत्-पिता कहते हैं, वह क्या अपने बच्चों का रक्त पीकर ही सन्तुष्ट होता है ?

वर्धमान : पिता जी ! आप तो सत्य को समझते हैं। दूसरी ओर मानव-समाज के बड़े अंश को अपने से अलग कर दिया है और उसे शूद्र नाम से लांछित करते हैं। वह व्यक्ति जिसके अंग हमारे ही अंगों की भांति हैं, जिसे हमारे समान सुख-दुख, प्रेम-घृणा, उत्साह और भय का अनुभव होता है, वह हमसे किस प्रकार भिन्न है ? उसे सामान्य सामाजिक अधिकारों से भी वंचित किया गया है। वह हमारे साथ बैठ नहीं सकता, उठ नहीं सकता, हँस नहीं सकता, बोल नहीं सकता। यदि वह व्यक्ति जिसे वे शूद्र कहते हैं, वेद-मंत्र का उच्चारण करता है तो उसकी जीभ काट ली जाती है। उसकी छाया यदि किसी ब्राह्मण

पर पड़ जाती है तो उस बेचारे के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं।

सिद्धार्थ : यह वास्तव में बड़ी निर्मम दृष्टि है किन्तु हमारी प्रजा पर तो ऐसा अत्याचार नहीं होता।

वर्धमान : हमारी प्रजा पर न हो किन्तु समस्त मानवता तो हमारी प्रजा नहीं है। आज मानवता में नैतिकता का कितना ह्रास हुआ है! सत्य जैसा रत्न उपेक्षित है और असत्य के काँच के टुकड़े संचित किये जा रहे हैं। स्वार्थ ने परोपकार का गला दबा रखा है। दास-दासी स्वामी की सम्पत्ति हैं। यदि वे अपने स्वामी के लिए धन कमा कर नहीं लाते तो उन्हें शारीरिक यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। और नारियों की दशा कितनी दयनीय है! वे क्रीत दासियों की भाँति पतियों से लांछित हो रही हैं। विवाह के द्वारा मैं केवल एक नारी की रक्षा करूँगा, अविवाहित रह कर मैं समस्त नारियों की रक्षा करने में समर्थ हो सकूँगा। इसलिए केवल एक नारी का होकर क्या मेरी दृष्टि सीमित नहीं हो जायगी ?

सिद्धार्थ : (**सोचते हुए**) मैं समझता हूँ, नहीं होगी। क्या एक लहर के तट में लीन होने पर सागर में लहरों का अन्त हो जाता है? मेरी दृष्टि में तुम्हारा व्यवहार सागर की भाँति होगा। तुम एक लहर को अपने में लीन कर असंख्य लहरों को तट तक ला सकोगे।

वर्धमान : किन्तु पिता जी! इसमें मेरे कर्मों का अन्त तो न होगा। मैं तपस्या द्वारा कर्म-बन्धन से मुक्त होना चाहता हूँ और यह राज-भवन छोड़ने पर ही संभव हो सकेगा। प्रकृति में मुझे बल मिलेगा। वायु की लहर जो सब स्थलों पर संचरित होती है, मुझे विश्व-प्रेम का सन्देश देगी और उसी से मानव-मात्र का कल्याण संभव होगा।

सिद्धार्थ : तो तुम विवाह भी नहीं करोगे और राज-भवन भी छोड़ दोगे ?

वर्धमान : आपसे ऐसी ही आज्ञा चाहता हूँ।

सिद्धार्थ : फिर मैं बार-बार सोचता हूँ कि उन राजाओं से क्या कहूँ जो प्रतिदिन तुम्हारे विवाह के प्रस्ताव करते हुए प्रार्थनाएँ करते हैं, उस प्रजा से क्या कहूँ जो तुम्हारे संरक्षण में अपना योग-क्षेम समझती है' उस राजलक्ष्मी के संकेतों पर क्या कहूँ जो राज-मुकुट से तुम्हारा अभिषेक करना चाहती है। और मैं अब वृद्धावस्था के क्षितिज पर डूबता जा रहा हूँ, शक्तिहीन होता जा रहा हूँ। क्या पुत्र का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह वृद्ध पिता को सहारा दे ?

वर्धमान : **(चुप रहते हैं।)**

सिद्धार्थ : बोलो, चुप क्यों हो ? तुम्हारे जैसा सात्विक नरेश पाकर क्या प्रजा सत्पथ पर नहीं चलेगी ? क्या तुम्हारी राजनीति से राज्य के सब अनर्थ समाप्त नहीं हो जायँगे ? तुम्हारे शासन में किसको पीड़ा होगी ? तुम अहिंसा को अपना राज-धर्म बना सकते हो। अपनी शक्ति से तुम शत्रुओं का दमन कर प्रजा क्या—मानव-मात्र की रक्षा कर सकते हो। संसार को सुखी बना कर तुम स्वयं सुखी हो सकते हो।

वर्धमान : किन्तु तपस्या में जो सुख है, पिता जी ! वह राज्य-शासन में नहीं। राज्य-शासन में वैमनस्य हो सकता है, तपस्या में सबसे मित्रता, सिंह और गाय, नकुल और सर्प, बिडाल और मूषक सब से समान सखा-भाव, न राग से विचलित, न द्वेष से कुपित। सदैव ही चित्त में प्रमुदित।

सिद्धार्थ : तपस्या तो सब साधनाओं से महान् है। और मैं कहता हूँ कि तुम अवश्य तपस्या करने जाओ और उस सुख को प्राप्त करो। भगवान् पार्श्वनाथ ने तीस वर्षों तक गृहस्थाश्रम व्यतीत किया, सत्तर वर्षों तक साधु जीवन में मानव-कल्याण का सन्देश दिया और सौ वर्ष की अवस्था में सम्मेद शिखर पर तप करने के पश्चात् निर्वाण-पद प्राप्त किया।

इसी प्रकार तुम अवश्य तपस्या करने जाओ और निर्वाण-सुख को प्राप्त करो, किन्तु कुछ वर्ष शासन करने के उपरान्त। राज्य-शासन से तुम्हें मनुष्य के स्वभाव, व्यवहार, आचरण आदि समझने का अवसर मिलेगा जिससे तुम मानव-कल्याण का मार्ग सरलता से खोज सकते हो। फिर मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि मैंने जिस प्रकार स्वामी पार्श्वनाथ के आदर्शों का पालन करते हुए नगर-लक्ष्मी की सेवा की है, उसी भांति तुम भी इस वंश-गौरव के यशस्वी प्रतीक बनो। तुम पिता नहीं हो, इसलिए पिता की आकांक्षाओं को नहीं समझते। तुम्हारी माता ने तुम्हारे अनुरूप एक राज-पुत्री का चयन किया है। उसका नाम यशोदा है, जो सब प्रकार से हमारी कुल-वधू बनने के योग्य है। तुम तो ज्ञानी हो। यह अवश्य जानते हो कि माता के हृदय को पीड़ा पहुँचाना भी दारुण हिंसा है। और तुम अहिंसा का प्रचार करना चाहते हो। माता की ममता तो हमारे राज्य में बहने वाली गंडकी की वह धारा है जो अपने अमृतमय नीर से सबको तृप्त करती है।

(नेपथ्य में हलचल)

सिद्धार्थ : यह कैसा शब्द है ?

(एक परिचारिका का शीघ्रता से प्रवेश)

परिचारिका : महाराज की जय ! महारानी अश्रु बहाते-बहाते संज्ञा-शून्य हो गई।

सिद्धार्थ : यह रानी की हिंसा है। शीघ्र उपचार किया जाय। हम अभी आते हैं।

वर्धमान : पिता जी ! मेरी वाणी से किसी प्रकार की हिंसा न हो, इसलिए मैं माँ के आग्रह और आपके आदेश से विवाह करूँगा। मैं भी माँ की सेवा में अभी चलता हूँ।

सिद्धार्थ : साधु ! साधु ! वर्धमान ! तुम यशस्वी बनो ! अपनी माँ को चैतन्य बनाकर यह शुभ सूचना दो। तुम जैसे आज्ञाकारी पुत्र से यही आशा थी। चलो, तुम्हारी माँ के पास चलें।

(शीघ्रता से प्रस्थान। वर्धमान भी गंभीर मुद्रा में पिता जी के पीछे-पीछे जाते हैं।)

[परदा गिरता है।]

चौथा अंक

●

(परदा उठने के पूर्व नेपथ्य से चर्या-पाठ)

जे य कंते पिए भोगे लद्धे वि पिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चई॥

(दशवैकालिक २—१)

[अर्थात् जो व्यक्ति सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी उनसे पीठ फेर लेता है, सम्मुख आये हुए भोगों का त्याग कर देता है, वही त्यागी कहलाता है।]

इस अंक में पात्र (प्रवेशानुसार)

१—वर्धमान

२—यशोदा

३—दंडाधिकारी

४—विशाखा

५—परिचारिका

[स्थान : राजमहल के बाहरी भाग में कुमार वर्धमान का क्रीड़ा-कक्ष

समय : प्रातःकाल की सुहावनी बेला

स्थिति : कुमार वर्धमान का यह क्रीड़ा-कक्ष एक सरोवर के किनारे बना हुआ है। इसकी सजावट में शिल्पी ने समस्त सौन्दर्य का आवाहन किया है। स्थान-स्थान पर नृत्य करते हुए मयूरों की आकृतियां हैं जो सजीव-सी लगती हैं। प्रकृति के अनेक चित्र दीवालों पर खिंचे हुए हैं। सजे हुए बैठने के स्थान। वातायनों पर पाट-वस्त्र। नीचे मखमली बिछावन। सूर्य की कोमल सुनहली किरणें वातायन से आ रही हैं जैसे वे कुमार वर्धमान और कुल-वधू यशोदा के दाम्पत्य जीवन को सुनहले रंग से रँगना चाहती हैं।

इस समय कुमार वर्धमान कक्ष में निर्विकार भाव से खड़े हुए और यशोदा उनकी आरती उतार रही है। आरती करने के बाद वह घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़ कर उन्हें प्रणाम करती है।]

वर्धमान : (हाथ बढ़ा कर) उठो, यशोदा ! उठो। हमारे वैवाहिक जीवन की यह गतिशील धारा कब तक प्रवाहित होती रहेगी ?

यशोदा : प्रभु ! जब तक हमारे उपवनों में वसन्त की परिक्रमा है, उसमें कोकिल का कूजन है और उस कूजन में माधुर्य की क्षण-क्षण में बहती हुई

मन्दाकिनी है तब तक हमारे सुख की आकाश-गंगा की ज्योति कभी मन्द नहीं होगी।

वर्धमान : किन्तु सुख की ज्योति तो कुछ दिनों बाद मन्द हो जाती है।

यशोदा : यह सुख अनेक रूप धारण करता है, प्रियतम ! जिस प्रकार आकाश-गंगा में अनेकानेक नीहारिकाएँ होती हैं और नीहारिकाओं की संख्या गिनी नहीं जा सकती, उसी प्रकार सुख के रूपों की संख्या गिनना संभव नहीं है।

वर्धमान : और हमारे विवाह में इतने उत्सवों की क्या आवश्यकता थी ?

यशोदा : प्रभु ! जब सूर्योदय होना है तो पूर्व दिशा में भाँति-भाँति के रंगों के वितान क्यों सुशोभित हो जाते हैं ? उषा नव वधू की भाँति क्यों सज-सँवर जाती है ? शीतल, मंद, सुगंध समीर क्यों परिचारिका की भाँति प्रत्येक पुष्प से आज्ञा माँगती है ? विहगों का समूह एक दिशा से दूसरी दिशा में उड़ कर क्यों मंगल संदेश वितरित करता है ? सुख की लहर में हँसी के बुद्बुद् बिखरते हैं, प्रियतम !

वर्धमान : किन्तु ये बुद्बुद् जल्दी ही फूट जाते हैं, यशोदा !

यशोदा : उनके फूटते ही नये बुद्बुद् जन्म लेते हैं, प्रभु ! और उनका यह क्रम अनन्त काल से चलता है और चलता रहेगा।

वर्धमान : किन्तु यह सुख, यह हँसी क्या हमें किसी भ्रम में नहीं डाल देती ?

यशोदा : सुख तो सुख है, और हँसी भी हँसी है। ओह प्रियतम ! जब हमारे विवाह के सम्बन्ध में पूज्य वैशाली-सम्राट् की स्वीकृति पहुँची तो सारे नगर में सुख और आनन्द की धारा सहस्रमुखी होकर फूट निकली। अहा ! कितना सुख, कितना आनन्द, कितनी शोभा ! घर-घर में मंगल त्योहार ! गली-गली में कुंकुम बिखर गया ! आपकी ओर से विलम्ब देख कर हम सब तो निराश हो रहे थे। हम लोग सोचते थे

कि जम्बू द्वीप में एक-से-एक गुणशीला सुन्दरियाँ हैं, उनके बीच में मेरी क्या गिनती किन्तु सुख और आनन्द का प्रवाह तो मेरे नगर में बहता था—मेरे हृदय में बहता था। और उस सुख के प्रवाह ने मुझे आपके चरणों तक पहुँचा दिया।

वर्धमान : तुम्हारे सुख से मैं भी सुखी हूँ, यशोदा ! किन्तु मैं समझता हूँ कि तुमसे विवाह कर मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है।

यशोदा : अन्याय कैसा, देव ! यह कहिए कि आपने मुझे कितना सौभाग्य-शालिनी बनाया है ? आपने मेरे साथ विवाह करने की स्वीकृति देकर मेरे जन्म-जन्मान्तर के मनोरथ पूरे किये हैं। मैंने स्वामी आदिनाथ के चरणों में न जाने कितनी पुष्पांजलियाँ अर्पित कर प्रार्थना की कि मुझे आपकी सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो और स्वामी आदिनाथ ने मेरी प्रार्थना स्वीकार की। अब मैं आपकी हूँ, आप मेरे हैं। जब मैं यह सोचती हूँ तो मेरा मन उसी प्रकार नृत्य करने लगता है जिस तरह इस कक्ष में यह **(मयूर को संकेत करते हुए)** मयूर नृत्य कर रहा है। स्वामी आदिनाथ की बड़ी कृपा है कि मेरी प्रार्थना स्वीकार हो गई।

वर्धमान : तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार हुई, यह अच्छा हुआ या बुरा, यह तो स्वामी आदिनाथ ही जानें। मैं कुछ नहीं समझ सका। किंशुक वृक्ष के फूल लाल होते हैं। यह कौन जानता है कि फूलों की लालिमा उसका शृंगार है या उसके हृदय की लगी हुई आग है।

यशोदा : लालिमा तो अनुराग का रंग है, स्वामी ! पूर्व में उषा आती है तो जैसे वह सिन्दूर से शृंगार कर आकाश पर अवतरित होती है। मेरी आरती के थाल में अग्नि तक लाल रंग धारण कर आपकी परिक्रमा करती है।

वर्धमान : किन्तु वह जलती भी तो है।

यशोदा : देवता के अभिनन्दन में जलना भी सौभाग्य की बात है।

वर्धमान : अभिनन्दन चाहे जैसा हो किन्तु उस जलने में धीरे-धीरे स्नेह भी कम हो जाता है और जब स्नेह समाप्त हो जाता है यह अभिनन्दन की आरती भी बुझ जाती है।

यशोदा : मुझे विश्वास है, स्वामी! यह स्नेह कभी कम न होगा और जिस स्नेह की स्वीकृति मेरी उपासना से हुई है वह तो अटल ध्रुव नक्षत्र की भाँति जगमगाता रहेगा और सुख के सप्त ऋषि उसकी परिक्रमा करते रहेंगे।

वर्धमान : किन्तु ध्रुव नक्षत्र तो बिना किसी इच्छा के आकाश में स्थिर है, यशोदा!

यशोदा : यह कौन जानता है कि किसके मन में क्या इच्छा है! मैं तो अपनी इच्छा जानती हूँ—जीवन भर आपकी सेवा करना।

वर्धमान : और यदि मैं तुमसे सेवा न लेना चाहूँ तो?

यशोदा : आराध्य कब सेवा लेना चाहता है, यह तो उपासक ही है जो सेवा में सुख मानता है। इधर देखिए, (**वातायन की ओर ले जाती है।**) यह कितना सुन्दर सरोवर है! प्रभात-किरणों में ये कमल कितने सुहावने लगते हैं! भौंरे गूंज-गूंज कर जैसे उनकी विरुदावलियाँ गा रहे हैं। कमल को क्या चिन्ता कि भौंरे उसके पास आते हैं या नहीं। ये भ्रमर ही हैं जो कमल की उपासना करने के लिए न जाने कहाँ-कहाँ से आ जाते हैं।

वर्धमान : ये रस के लोभी हैं, यशोदा! कमल-कोश में प्रवेश कर रस-पान करते हैं और संध्या होने पर कभी-कभी कमल में बन्दी भी हो जाते हैं।

यशोदा : किन्तु वे मुक्त होने के लिए कमल का कोश काटते नहीं हैं, प्रभु!

वर्धमान : वे न काटें, वे भ्रमर-मात्र ही तो हैं किन्तु यदि मनुष्य चाहे तो अपने बन्धन काट सकता है।

यशोदा : हाँ, मनुष्य अपने को बुद्धि का विधाता समझता है।

वर्धमान : विधाता हो या अनुचर किन्तु मनुष्य के पास विवेक और सन्तुलन है। वह अपना बन्धन इच्छानुसार काट सकता है और मुक्त हो सकता है।

यशोदा : हाँ, मुक्त होना तो बुरी बात नहीं है।

वर्धमान : तो यशोदा ! यदि मैं मुक्त होना चाहूँ तो ? (**प्रश्न-मुद्रा**)

यशोदा : (कुतूहल से) आप ? आप ? मुक्त होना···चाहेंगे ?

वर्धमान : हाँ, यशोदा ! पिछले अनेक वर्षों से मैं ऐसा ही सोचता रहा हूँ। यशोदा ! तुम बुरा मत मानना। मैं विवाह के बन्धन में आना ही नहीं चाहता था। यह तो माँ का आग्रह और पिता का आदेश था कि मैं विवाह करूँ। और माता-पिता की आज्ञा मानना आवश्यक था। जब मैंने विवाह की बात नहीं मानी तो माता जी संज्ञा-शून्य हो गई। पिता जी ने कहा कि तुम्हारी अस्वीकृति की यह वाणी ही एक हिंसा है जबकि तुम सब को अहिंसा का उपदेश देते हो। मैं निरुत्तर हो गया। मेरे द्वारा किसी प्रकार की कोई हिंसा न हो, इसलिए मुझे विवाह करना पड़ा।

यशोदा : और विवाह करने के बाद यदि आप बन्धनों से मुक्त होकर मुझे कष्ट भोगने के लिए छोड़ गये तो क्या यह हिंसा नहीं होगी ? बोलिए !

वर्धमान : तुम्हें कष्ट भोगने की मनोवृत्ति से दूर होना होगा।

यशोदा : और यदि न होऊँ तो ? इस विवाह के लिए मैंने कितने व्रत-उपवास किये। प्रभु पार्श्वनाथ की प्रतिमा के पार्श्व में बैठ कर कितनी प्रार्थनाएँ कीं कि मुझे अपने जैसा ही पति देना और उन्होंने अपने जैसा ही पति आपके रूप में मुझे दे दिया।

वर्धमान : और मैंने भी तो उनसे प्रार्थना की थी कि अपने समान मुझे भी मुक्त बना देना। मैं कल्याणकारी धर्म का अभ्यास करूँ, जिससे मेरा पुनर्जन्म न हो।

यशोदा : तो समय आने पर आपकी भी प्रार्थना सुनी जायगी।

वर्धमान : मैं तो अभी से मुक्त होना चाहता हूँ, यशोदा! संसार में जितनी वस्तुएँ बन्धन में डालने वाली हैं, उनसे मुक्ति चाहता हूँ।

यशोदा : मैं आपको बन्धन में नहीं डालूंगी, देव!

वर्धमान : यह तो मेरा मन ही जानता है कि बन्धन क्या है और उससे किस प्रकार मुक्ति मिलेगी। इस संसार में सम्पत्ति और सौन्दर्य सब से बड़े बन्धन हैं।

यशोदा : और मैं समझती हूँ कि बन्धन ही मुक्ति के साधन हैं। जिस प्रकार एक शक्तिशाली पुरुष कील से पीट कर कील को निकालता है, उसी प्रकार एक कुशल पुरुष इन्द्रियों के द्वारा ही इन्द्रियों का दमन करता है।

वर्धमान : यह तो तुम तत्त्व की बात कहती हो, यशोदा! किन्तु मैंने अभी से बन्धन से मुक्त होना आरम्भ कर दिया है।

यशोदा : किस प्रकार, स्वामी?

वर्धमान : तुम बुरा तो नहीं मानोगी, यशोदा?

यशोदा : नहीं, प्रियतम! आप जिस कार्य को करेंगे, उससे तो मुझे प्रसन्नता ही होगी। बुरा मानने की बात ही क्या है?

वर्धमान : तो सुनो! विवाह के अवसर पर तुम्हारे पिता जी ने जो आकर्षक और बहुत बड़े मूल्य का रत्नहार भेंट किया था, उसका मैंने विसर्जन कर दिया।

यशोदा : विसर्जन कर दिया ? क्यों ? कहाँ ? कैसे ?

वर्धमान : **(सरोवर की ओर संकेत करते हुए)** इसी सरोवर में। कल रात मैं उसे बड़ी देर तक देखता रहा। उसके रत्न अनुराधा नक्षत्र की तारिकाओं की भाँति ज्योतिपूर्ण किरणों से जगमगा रहे थे। लगता था कि ये किरणें ऐसी रश्मि-रज्जुएँ हैं जो मेरे कंठ में अपना पाश डाल देंगी। मैंने इस वातायन से उस रत्नहार को सरोवर में विसर्जित कर दिया।

यशोदा : ओह ! वह कितना सुन्दर रत्नहार था ! वह तो मेरे पिता जी रत्न द्वीप के सागर-तट से आपके लिए ही लाये थे। एक-एक रत्न बड़े मूल्य का था।

वर्धमान : मूल्य होता भी है और नहीं भी होता, यशोदा ! यह तो दृष्टि का लक्ष्य है और संसार में प्रत्येक वस्तु का लक्ष्य होता है। जो वस्तु जहाँ से आती है, उसे वहीं लौट जाना चाहिए। जल में जो रत्न उत्पन्न हुए, उन्हें जल में ही लौट जाना चाहिए।

यशोदा : तब तो मुझे भी अपने माता-पिता के पास लौट जाना चाहिए। ओह ! मैं बहुत अशान्त हो गई हूँ, प्रियतम ! यदि दृष्टि की ऐसी ही गति रही तो किसी दिन मैं भी विसर्जित हो सकती हूँ।

वर्धमान : विसर्जित कौन नहीं होता, यशोदा ? धन-वैभव, रूप-सौन्दर्य अपना समय समाप्त कर सभी विसर्जित हो जाते हैं। अन्त में सत्य ही रहता है। संसार को देखकर जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिज्ञासा से ज्ञान बढ़ता है, ज्ञान से प्रज्ञा जाग्रत होती है और प्रज्ञा से सत्य-बोध होता है। यही सत्य-बोध वास्तव में अन्त तक रहता है। जिस प्रकार एक कुशल धनुर्धारी अपने बाण से वाल के अग्र भाग को वेध देता है, उसी प्रकार साधक वस्तु-स्थिति को वेध कर सत्य को जान लेता है।

यशोदा : (**विह्वल होकर**) स्वामी !

वर्धमान : और संसार की आयु उसी प्रकार क्षीण होती जाती है जिस प्रकार अंजुलि से बूंद-बूंद जल टपक जाता है। ये वैभव उसी प्रकार बिखर जाते हैं, जिस प्रकार वायु का प्रबल झोंका सूखे पत्तों को बिखरा देता है।

यशोदा : प्रभु पार्श्वनाथ जी ने भी संभवतः ऐसा ही उपदेश दिया था।

वर्धमान : इस सन्दर्भ में उन्होंने यह भी कहा था कि जिस प्रकार महा जल की धारा सरकंडों से बने पुल को बहा ले जाती है उसी प्रकार मृत्यु भी एक ही आघात में जीवन को बहा ले जाती है।

यशोदा : तो इसका उपाय क्या है, स्वामी ?

वर्धमान : जिस प्रकार यंत्री नहर के पानी को ले जाता है, बाण बनाने वाला बाणों को ठीक करता है, विश्वकर्मा लकड़ी को ठीक करता है, उसी प्रकार सुधी जन अपनी इन्द्रियों का दमन करते हैं।

यशोदा : क्या गृहस्थाश्रम में रह कर इन्द्रियों का दमन नहीं हो सकता ?

वर्धमान : नहीं, यशोदा ! कांटेदार करील वृक्ष की डालियों से जिस प्रकार वस्त्र निकालना कठिन होता है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में इन्द्रियों से मुक्ति नहीं मिल पाती। जिस प्रकार आकाश में पक्षियों के उड़ने की दिशा नहीं जानी जाती, उसी प्रकार इन्द्रियों की गति भी समझ के बाहर है।

यशोदा : वास्तव में आपकी वाणी विश्वास उत्पन्न करती है किन्तु अभी तो आपने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया है, इससे मुक्त होने का समय तो अभी नहीं है।

वर्धमान : पहले करने योग्य काम पीछे नहीं करना चाहिए, यशोदा ! मन्द गति के योग्य समय शीघ्रगामी होता है और शीघ्र गति के योग्य

समय मन्दगामी होता है। यह विवेक से ही संतुलित होता है और उसी में सुख है।

यशोदा : आपको किस सुख की कमी है? आप चारों दिशाओं के विजेता, जम्बू द्वीप के ईश्वर और रथ-पति चक्रवर्ती हैं।

वर्धमान : किन्तु मैं पृथ्वी और अग्नि की भाँति न तो किसी से प्रेम करता हूँ और न किसी से द्वेष।

यशोदा : (**मुस्करा कर**) मुझ से भी नहीं?

वर्धमान : यशोदा! इस समय मैं वर्षा ऋतु में नीड़ में बैठे हुए पक्षी के समान हूँ।

यशोदा : तो वर्षा ऋतु बीत जाने के अनन्तर आप नीड़ का परित्याग भी कर सकते हैं।

वर्धमान : यही सोच रहा हूँ। जैसे वायु आकाश में फैले हुए बादलों को हटा देती है, उसी प्रकार आने वाला समय मेरे समस्त बन्धनों को हटा देगा। मेरा मन मुक्त होकर आनन्द में मिल जायगा, जैसे गंगा की धारा सागर में जाकर मिल जाती है।

यशोदा : तब मेरा अलंकार धारण करना, सुन्दर वस्त्र पहनना, माला धारण करना, अपने चरणों को लाक्षा से रंजित करना व्यर्थ है।

वर्धमान : यह तुम्हारी इच्छा, मेरे संन्यास-ग्रहण में इनका कोई स्थान नहीं है।

यशोदा : तब आप यह भी सुन लीजिए कि जब आप संन्यास ग्रहण करेंगे तो मैं भी आपके साथ संन्यासिनी हो जाऊँगी।

वर्धमान : तुम्हें बहुत कष्ट होगा, यशोदा! यह सुकुमार शरीर तपस्या के कष्टों को कैसे सहन करेगा?

यशोदा : यदि आपको कष्ट नहीं होगा तो मुझे क्या कष्ट होगा ? मेरी धारणा आपके विचारों की अनुगामिनी होगी।

वर्धमान : साधु ! साधु ! यशोदा ! जब तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा तो फिर पिता जी के कथनानुसार हिंसा की बात ही नहीं उठेगी।

यशोदा : आपके प्रत्येक कार्य में मेरी सहमति है। कहो तो अग्नि के समक्ष साक्षी दूं !

वर्धमान : नहीं, मुझे तुम्हारे वचनों पर विश्वास है।

(इसी समय नेपथ्य में हलचल होती है।)

यशोदा : **(चौंक कर)** यह कैसी अशान्ति ?

(नेपथ्य में परिचारिका का स्वर—क्या मैं प्रवेश कर सकती हूँ, स्वामिनी ?)

यशोदा : प्रवेश हो।

(एक परिचारिका का प्रवेश)

परिचारिका : स्वामी की जय ! स्वामिनी की जय ! निवेदन है कि राज्य के दंडाधिकारी ने एक स्त्री को बन्दी किया है। उसने सरोवर में स्नान करते हुए एक रत्नहार उठा लिया है। यह रत्नहार स्वामी का है, ऐसा दंडाधिकारी कहते हैं।

वर्धमान : यह वही रत्नहार तो नहीं है जो मैंने सरोवर में विसर्जित किया था।

यशोदा : वही होगा, स्वामी !

वर्धमान : **(परिचारिका से)** दंडाधिकारी और उस स्त्री को भीतर भेजो।

परिचारिका : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

वर्धमान : सम्पत्ति का यह स्वभाव है कि जितना ही उसका तिरस्कार करो, वह उतनी ही पास आती है।

यशोदा : और मेरे पूज्य पिता जी ही नहीं, उनकी दी हुई वस्तुएँ भी आपसे इतना प्रेम करती है कि वे आपका साथ नही छोड़ना चाहती।

वर्धमान : किन्तु साथ छूटना तो संसार का नियम है।

(सैनिक वेश में दंडाधिकारी और एक सामान्य स्त्री का प्रवेश)

दंडाधिकारी : (**सिर झुका कर**) स्वामी की जय! स्वामिनी की जय! निवेदन है कि मैं प्रातः सरोज सरोवर की सुरक्षा के लिए वहाँ पहुँचा। देखा कि यह स्त्री स्नान कर छिपते हुए भागने का प्रयत्न कर रही है। जब मैंने इसे रोक कर उसके वस्त्रों की जाँच की तो उसके पास से यह रत्नहार प्राप्त हुआ। एक बार मैंने इस रत्नहार को स्वामी के कंठ में देखा था। मैंने अनुमान किया कि स्वामी स्नान करने के लिए सरोज सरोवर गये हों और वहाँ यह रत्नहार उठाना भूल गये हों। यह स्त्री इसे चुरा कर भाग रही थी। मैंने इसे बन्दी बना लिया। यह आपकी सेवा में उपस्थित है। यह रत्नहार है। (**सामने की पीठिका पर रत्नहार रखता है**।) अब आपकी जैसी आज्ञा हो!

यशोदा : स्वामी का ही यह रत्नहार है।

वर्धमान : हाँ, यह वही रत्नहार है।

दंडाधिकारी : तब तो इस स्त्री ने निश्चय ही चोरी की है।

वर्धमान : (**बंकिम भौंह करते हुए**) चोरी? तुमने चोरी की है, भद्रे?

स्त्री : (**सिसकते हुए**) मैं निरपराध हूँ, स्वामी!

यशोदा : दंडाधिकारी ने यह रत्नहार तुम्हारे पास पाया और तुम निरपराध हो ? और तुम रो रही हो ! अपने आँसुओं से तुम अपने अपराध का प्रक्षालन नहीं कर सकतीं। तुम कौन हो ? अपना परिचय दो !

स्त्री : (**सिसकते हुए**) मेरा नाम विशाखा है, स्वामिनी ! मैं क्षत्रिय कुंडग्राम में ही निवास करती हूँ। मेरे पति···एक···सामान्य श्रमिक ···थे। गत वर्ष उनका देहावसान···हो···गया··· (**अधिक सिसकियाँ लेती है।**)

यशोदा : शान्त ! शान्त ! मुझे इस बात से हार्दिक दुःख है । पति-विहीन नारी जल-विहीन सरिता होती है, किन्तु इसका अपराध से क्या सम्बन्ध है ?

स्त्री : महारानी ! मेरे तीन बच्चे हैं। तीनों भूख से तड़पते रहते हैं। (**सिसकियाँ लेती है**) मेरे पति ने कुछ भी धन नहीं छोड़ा जिससे मैं अपने बच्चों का पोषण कर सकूं। मैं उन्हें भूख से तड़पते हुए नहीं देख सकती। (**सिसकियाँ**)

वर्धमान : तुमने राज्य को इसकी सूचना क्यों नहीं दी ?

स्त्री : महाराज ! मेरा साहस नहीं हुआ। मुझ अकिंचन स्त्री को राज-द्वार तक कौन पहुँचने देता ?

वर्धमान : नहीं, राज-द्वार के समक्ष प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति पहुँच सकता है ।

स्त्री : मेरे पड़ोसियों ने मुझे रोक दिया। कहा—तेरे पहुँचने से राज-द्वार अपमानित होगा और तुझे कड़ा दंड मिलेगा । वे लोग मेरे पति से ईर्ष्या करते थे, कदाचित् इसीलिए हम लोगों का तड़पना उन्हें अच्छा लगता था।

वर्धमान : (**दंडाधिकारी से**) दंडाधिकारी ! ऐसे व्यक्तियों को पहचान कर मेरे समक्ष उपस्थित किया जाय।

दंडाधिकारी : जो आज्ञा, स्वामी !

यशोदा : इस समय तुम्हारे बच्चे कहाँ हैं ?

स्त्री : (**फिर सिसकियाँ लेती है**) मैं अपने बच्चों को भूख से तड़पता हुआ नहीं देख सकती थी, महारानी ! इसलिए आज प्रातः उन्हें एक धनी परिवार के द्वार पर छोड़ कर मैं आत्म-हत्या करने के विचार से सरोज सरोवर पर गई।

यशोदा : आत्म-हत्या करने के विचार से ?

स्त्री : महारानी ! क्षमा करें। माता का हृदय निरीह बच्चों का कष्ट सहन नहीं कर सकता। मैं आत्म-हत्या का पाप करने के लिए ही सरोवर पर गई थी, स्नान करने के लिए नहीं। वहीं मुझे यह रत्नहार मिला। मैं समझ गई कि यह राज-परिवार का ही हार है। मरने से पहले मुझ से कोई पाप न हो, इसलिए इसे मैं राज-भवन में पहुँचाने के लिए ही आ रही थी कि दंडाधिकारी ने मुझे बन्दी बना लिया। मुझे तो राज-भवन में आने का साहस ही नहीं हो रहा था तो मैंने दंडाधिकारी से ही कहा कि यह रत्नहार राज-भवन में पहुँचा दीजिए, किन्तु मेरी प्रार्थना न सुन कर उन्होंने मुझे बन्दी बना लिया।

दंडाधिकारी : सभी अपराधी सत्य नहीं बोलते, श्रीमन् ! मैंने सोचा कि पकड़ लिये जाने पर ही यह अपनी मुक्ति के लिए प्रार्थना कर रही है।

वर्धमान : मुक्ति के लिए प्रार्थना कर रही है ! वह जानती भी है कि मुक्ति का क्या अर्थ है ?

स्त्री : मैं कुछ नहीं जानती, महाराज ! (**सिसकियाँ**) जो चाहें मुझे दंड दें। किन्तु यह मेरा भाग्य है कि मुझे इस रत्नहार के कारण महाराज और महारानी के दर्शन एक साथ हो रहे हैं जो मेरे जीवन में कभी संभव नहीं था।

वर्धमान : तुम बुद्धिमती ज्ञात होती हो । **(दंडाधिकारी से)** ठीक है, दंडाधिकारी ! इस स्त्री के स्थान पर जाकर तुम इसके कथन की जाँच करो और यदि इसका कथन सत्य हो—जो होना चाहिए—तो इसके पुत्रों के पोषण की व्यवस्था की जाय । उनका पोषण राज्य की ओर से होगा । उन्हें संरक्षण-शाला में रखो ।

दंडाधिकारी : जो महाराज की आज्ञा ।

स्त्री : **(चरणों पर गिर कर)** महाराज ! महाराज ! आप कितने धर्मात्मा हैं ! न्यायी, प्रजा-पालक, और दीनों का दुःख समझने वाले ! आप जन्म-जन्मान्तरों तक हमारे राजा रहें और हम आपकी प्रजा !

यशोदा : और दंडाधिकारी ! सुनो । यह रत्नहार महाराज के द्वारा परित्यक्त है, इसलिए इस रत्नहार के रत्नों को ऐसे परिवारों में वितरित कर दो जो अर्थाभाव से पीड़ित हैं । इस नारी को भी इस रत्नहार के रत्न प्राप्त हों ।

दंडाधिकारी : जो आज्ञा, महारानी !

वर्धमान : **(यशोदा से)** साधु ! यशोदा ! तुमने यह निर्णय करके मुझे अपार सुख और सन्तोष दिया है । **(दंडाधिकारी से)** दंडाधिकारी ! इस आज्ञा का शीघ्र पालन हो । और जिन रंक परिवारों को तुम इस रत्नहार के रत्न वितरित करोगे, उनकी सूची तुम भाण्डागारिक को दोगे ।

दंडाधिकारी : जैसी महाराज की आज्ञा । यदि आदेश हो तो भाण्डागारिक ही इन रत्नों का वितरण करें । मैं आपके आदेश की पूर्ति के लिए वहाँ उपस्थित रहूँगा ।

(पीठिका से रत्नहार उठा लेता है ।)

स्त्री : महारानी धर्म की देवी हैं और महाराज धर्म के देवता !

(झुक कर प्रणाम करती है ।)

दंडाधिकारी : **(स्त्री से)** चलो, बाहर चलो।

स्त्री : **(जाते हुए)** महाराज और महारानी की जय !

दंडाधिकारी : **(सैनिक ढंग से)** महाराज की जय ! महारानी की जय !

(महावीर वर्धमान और महारानी यशोदा अभय मुद्रा में हाथ उठाते हैं।)

वर्धमान : यह मेरी मुक्ति का मंगलाचरण है !

[परदा गिरता है।]

पांचवां अंक

(परदा उठने के पूर्व नेपथ्य से चर्या-पाठ)

ण हि णिरवेक्खो चाओ ण हवदि भिक्खुस्स आसव विसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ॥

(प्रवचन सार ३–२०)

[अर्थात् जब तक भिक्षु द्वारा निरपेक्ष त्याग नहीं होता, तब तक उसकी चित्त-शुद्धि नहीं होती और जब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक उसके द्वारा कर्मों का क्षय किस प्रकार हो सकता है ?]

इस अंक में पात्र (प्रवेशानुसार)

१—नन्दिवर्धन

२—वर्धमान

३—सुप्रिया

४—रंभा

५—तिलोत्तमा

६—इन्द्रगोप

७—चुल्लक

८—शूलपाणि

[स्थान : मोराक ग्राम

समय : संध्या-काल

स्थिति : एक वट-वृक्ष की छाया। स्थान सुनसान है। चारों ओर शान्ति का वातावरण। आस-पास लता-गुल्म हैं। एक सम भूमि पर महावीर वर्धमान संन्यासी के वेश में पद्मासन लगाये बैठे हैं। पास ही उनके भाई नन्दिवर्धन खड़े हैं।]

नन्दिवर्धन : तो तुमने संन्यास ले लिया ! तुम्हें खोजते-खोजते यहाँ पहुँचा हूँ। जहाँ-जहाँ पता लगता था, वहीं जाता था किन्तु ज्ञात होता था कि तुम वहाँ से भी अन्यत्र चले गये। कर्मार ग्राम गया, वहाँ तुम नहीं थे। एक ग्वाले ने तुम्हें बहुत कष्ट दिया। वह तुम्हें अपने बैल सौंप गया, जब लौटा तो उसके बैल तुम्हारे पास नहीं थे। वे चरते हुए अन्यत्र चले गये और तुम अपने ध्यान में ही लीन थे। उसने जब पूछा तो तुमने कुछ उत्तर ही नहीं दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल वे बैल लौट कर तुम्हारे पास आकर बैठ गये। जब उस ग्वाले ने अपने बैलों को तुम्हारे पास देखा तो उसे क्रोध आया कि बैलों का पता जानते हुए भी तुमने उसे व्यर्थ भटकाया। उसने तुम पर प्रहार किया और तुम चुपचाप बैठे रहे। उसके बाद तुम कोल्लाग ग्राम चले आये। जब मैं

वहाँ पहुँचा तो ज्ञात हुआ तुम वहाँ से भी चले आये। अब यहाँ आकर मोराक ग्राम में तुम्हें पाया। तुमने ममता-मोह का इतना त्याग किया और संन्यास ले लिया ?

वर्धमान : भाई ! यही मेरा निश्चय था। यह तो कहें, संन्यास लेने में मुझे देर हो गई। मैंने माता-पिता को वचन दिया था कि जब तक आप दोनों जीवित हैं, तब तक संन्यास ग्रहण नहीं करूँगा। उनके जाने के बाद अब मैं स्वतंत्र हूँ। मैंने गृहस्थाश्रम छोड़ दिया।

नन्दिवर्धन : और यशोदा को भी छोड़ दिया ?

वर्धमान : वे तो मेरी इच्छा की अनुगामिनी रही हैं। वे कहती थीं कि मैं आपके साथ ही संन्यास ग्रहण करूँगी। वे अपने पिता के पास कुछ दिनों के लिए कलिंग चली गईं। इसी बीच मैंने अनुभव किया कि मैं मुक्त हूँ और मैंने संन्यास ले लिया।

नन्दिवर्धन : यह अच्छा नहीं हुआ, वर्धमान ! जब वे कलिंग से लौटेंगी और तुम्हें राज-भवन में न पायेंगी तो क्या दशा होगी उनकी ? यह नहीं सोचा ? बड़े अहिंसा के प्रचारक हो ! उनको मर्मान्तक कष्ट देकर तुम किस अहिंसा की बात करोगे ?

वर्धमान : मैंने कहा न, भाई ! कि वे स्वयं संन्यास ग्रहण करेंगी। संन्यास ग्रहण करने पर हर्ष-विषाद, लाभ-हानि, जीवन-मरण के सम्बन्ध में विचार करने की मनोवृत्ति ही नहीं होगी।

नन्दिवर्धन : तो तुमने अपने राजकीय कर्त्तव्यों से मुख मोड़ लिया। स्वयं संन्यासी बन कर अपनी पत्नी को भी संन्यासिनी बना दिया। क्यों ? महावीर वर्धमान ! क्या इसे तुम अपनी महावीरता समझते हो ? किस समय कौन-सा कार्य करना उचित है, यह भी नहीं समझते ?

वर्धमान : भाई ! उचित और अनुचित तो परिस्थितियों और दृष्टि पर निर्भर है। कोई सौ संकेतों और सौ लक्षणों से युक्त किसी अर्थ का एक ही अंग देखता है और यदि मैं एक संकेत और एक लक्षण में सौ अंग देख लेता हूँ तो क्या अनुचित करता हूँ ? मैं धर्म-रस से सुखी हूँ भाई ! श्रेष्ठ और उत्तम रस को पीकर मैं विष का सेवन नहीं करना चाहता।

नन्दिवर्धन : मणि-कुंडल, राज्य-वैभव और सम्मान, कन्या-दारा जो सुख देते हैं, क्या वे विष की भाँति हैं ? यह जो तुम्हारा अभिषेक किया गया, यह विष के समान है ?

वर्धमान : रत्नहारों, चाँदी और सोने के पात्रों को त्याग कर जो मैंने मिट्टी का पात्र लिया है, वह मेरा वास्तविक अभिषेक है।

नन्दिवर्धन : (**परिहास से**) हुँअ् ! राजमहल के स्वादिष्ट व्यंजनों को छोड़कर जो तुम भिक्षान्न पर निर्वाह करोगे, चीवर पहन कर जो तुम भिक्षा माँगोगे, उसमें कौन-सा सुख है ?

वर्धमान : मैं चीवर भी धारण नहीं करूँगा, भाई ! और जो तुम भिक्षान्न की बात कहते हो तो मुझे भिक्षा की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि जिस अमृत का रस आज मैंने पाया है, वह सौ प्रकार के व्यंजनों में भी नहीं पा सका।

नन्दिवर्धन : न पाया होगा किन्तु इसे मैं क्या कहूँ कि सिंहासन का स्वामी आज धूल-धूसरित भूमि पर बैठा है। सरोवरों में विहार करने वाला राजकुमार आज बूँद-बूँद पानी के लिए तरसता है।

वर्धमान : भाई ! जब मैंने अमृत पा लिया फिर पानी की क्या आवश्यकता ? संसार के सरोवर से उठा कर मैंने अपने-आप को निर्वाण की पुण्य भूमि पर उतार लिया है। जो अपने चित्त के विषय में आश्वस्त है, वह अनासक्ति के महत्त्व को जानता है।

नन्दिवर्धन : और यदि चित्त ने विद्रोह किया तो ?

वर्धमान : जिसका चित्त पर्वत की भाँति अचल है, रंजनीय वस्तुओं से विरक्त है, उसका चित्त विद्रोह नहीं कर सकता और यदि विद्रोह करेगा तो मैं इसे उसी प्रकार वश में लाऊँगा जिस प्रकार अंकुश ग्रहण करने वाला महावत हाथी को वश में लाता है। और आप जानते हैं कि कुछ वर्ष पूर्व मैंने एक मतवाले हाथी को वश में किया था।

नन्दिवर्धन : हाथी को तो कोई भी महावत वश में कर सकता है किन्तु वासनाओं को वश में लाने में बड़े-बड़े योगी भी असमर्थ हो जाते हैं।

वर्धमान : भाई ! मैंने वासनाएँ जला दी हैं। तृष्णा रूपी तीर अपने हृदय से निकाल दिया है। सभी प्रकार के भय का उन्मूलन कर दिया है। मैंने जन्म-रूपी संसार में आग लगा दी है और कर्म-यंत्र को विघटित कर दिया है। अब मैं समझता हूँ कि मेरे लिए पुनर्जन्म की स्थिति नहीं होगी।

नन्दिवर्धन : पुनर्जन्म की स्थिति न हो किन्तु इस जीवन की क्या स्थिति होगी ? इस जीवन में तुम जंगल में फेंकी गई लकड़ी की भाँति वनों में वास करोगे।

वर्धमान : नहीं भाई ! मैंने इस संसार में न जाने कितने शरीर रूपी अनित्य गृह बनाये हैं। अब मैंने ऐसे गृहों की सभी कड़ियाँ तोड़ दी हैं। उनके शिखर टूट गये हैं। अब मेरे सामने राजगृह कहाँ हैं !

नन्दिवर्धन : तो तुम वन-वन घूम कर क्या करोगे ?

वर्धमान : भाई ! वनों में सुन्दर शिखा वाले, सुरंग ग्रीवा वाले मयूर नृत्य करते हैं, कोकिल कूजन करती है, मृग विहार करते हैं, मखमली पृथ्वी पर हरी घास बिछी रहती है, जल में तरंगें उठती हैं। प्रकृति में कितनी शान्ति है, कितनी सुषमा है ! नवीन वर्षा से सिक्त हो वृक्षों के समूह

पर्वतों पर लहराते हैं, जल ऐसे बरसता है जैसे कोई गीत गा रहा है। शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु पीकर नाना प्रकार के पक्षी योगियों को जगाते हैं, अपने कलरव से वे प्रकृति का अमृत-रस मानस में भरते रहते हैं। ऐसा रस ईर्ष्या, द्वेष भरे नागरिकों में और स्वार्थ से भरे हुए संसार में कहाँ मिलेगा ?

नन्दिवर्धन : ऐसे संसार में भी तुम तीस वर्षों तक रहे !

वर्धमान : अवश्य रहा किन्तु जब मैं ऐसे संसार में निवास करता था तब मेरा शरीर भले ही राज-भवन में रहता हो, पर मेरा मन इसी वन में विहार करता था। भाई ! अब मैंने लोक-परलोक की तृष्णा का त्याग दिया है। अब संसार में मेरे किसी गृह का निर्माण नहीं होगा।

नन्दिवर्धन : फिर भी इस संसार में तृष्णा से मुक्ति नहीं है, वर्धमान !

वर्धमान : मुझे क्षमा करें ! मैं अपने अनुभव से कहता हूँ, काल के प्रहार से आयु गिरती जाती है। संसार मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है। वह वैसा ही पीड़ित है जैसे कोई चोर राजदण्ड से भय-ग्रस्त रहता है। इसलिए मैंने दुःख-निरोध के लक्ष्य-वेध से तृष्णा को समाप्त कर दिया है। क्योंकि तो क्षण-क्षण में परिवर्तित होता रहता है। मुझे ही देखिए, मैं पहले की भाँति नहीं हूँ। भाई ! अन्त में मैं यही कहना चाहता हूँ कि मैं न तो मृत्यु का अभिनन्दन करता हूँ, न जीवन का। अहिंसा में स्थिर रहते हुए मैं अपने समय की प्रतीक्षा करता हूँ।

नन्दिवर्धन : तो यह तुम्हारा अन्तिम निर्णय है कि तुम कुंडग्राम नहीं चलोगे।

वर्धमान : भाई, मुझे क्षमा करें ! इस समय तो नहीं चल सकूँगा। मैं कभी कुंड-ग्राम अवश्य आऊँगा। राज्य-शासन करने के लिए नहीं, भिक्षा माँगने के लिए। मेरे लिए किसी स्थान में आने के लिए किसी प्रकार की रोक नहीं है।

नन्दिवर्धन : अच्छी बात है। तो अब मैं लौट जाता हूँ। देखूंगा कि तुम अपने भविष्य-जीवन में माया-मोह से कहाँ तक दूर रहते हो।

(नन्दिवर्धन महावीर वर्धमान को घूरते हुए जाते हैं। उनके जाते ही दूसरी ओर से नेपथ्य में वीणा और मृदंग की ध्वनि आती है। दूसरे ही क्षण तीन सुन्दरियां क्रमशः नृत्य करते हुए आती हैं। ये तीनों भिन्न-भिन्न वेश-भूषा की हैं। मानो सतो गुण, रजो गुण और तमो गुण स्त्री-वेश धारण कर महावीर वर्धमान को उनकी साधना से विरत करने के लिए एक साथ आ गये हैं। पहली सुन्दरी का नाम है—सुप्रिया। यह सतोगुणी है। श्वेत रंग की साड़ी, कंठ में मुक्ता-हार, कटि में किंकिणी और पैरों में नूपुर। माथे पर श्वेत चन्दन की पत्रावलि और श्वेत अंगराग। हाथों में हीरक-जटित कंकण और माथे पर बेंदी। दूसरी सुन्दरी का नाम है—रंभा, जो रजोगुणी है। लाल रंग की साड़ी और समस्त परिधान अरुण वर्ण के ही हैं। कंठ में माणिक के आभूषण, हाथों में विद्रुम जटित कंकण, किंकिणी और नूपुर, माथे पर केसर की पत्रावलि, बीच में अरुण बिन्दु, माथे पर माणिक की बिन्दी। तीसरी सुन्दरी का नाम तिलोत्तमा है, जो तमोगुणी है। नीले रंग की साड़ी और अन्य परिधान भी श्याम और नील वर्ण का है। कंठ और हाथों में नील मणि के आभूषण, माथे पर कस्तूरी बिन्दु, नेत्रों में काजल, कपोलों पर तिल, नीलम की बेसर और कुंडल। सभी की कुंतल-राशि में फूल-मालाएं हैं। सुप्रिया के केशों में हरसिंगार, रंभा के केशों में पाटल और तिलोत्तमा के केशों में नील कमल।

सुन्दरियां नाना प्रकार के हाव-भाव करती हैं किन्तु महावीर वर्धमान ध्यानस्थ होकर आंखें बन्द किये बैठे हैं। सुन्दरियां नृत्य करते हुए परिहास और व्यंग्य की मुद्राएं बनाती हैं और ध्यानस्थ वर्धमान की आकृति की नकल करती हैं। अन्त में थक कर महावीर वर्धमान के दाएं-बाएं और सामने बैठ जाती हैं।)

सुप्रिया : रंभा ! हम लोग नृत्य करते-करते थक गईं किन्तु इन महात्मा के ध्यान की मुद्रा ही नहीं टूटी। देवेन्द्र भी हम लोगों के नृत्य से भाव-विभोर हो जाते किन्तु इन्होंने हमें देखा भी नहीं।

रंभा : हाँ, सुप्रिया ! बड़े-बड़े मुनियों के नेत्र हमारे नृत्य की गति के साथ घूमते हैं किन्तु इनके नेत्र तो जैसे सीपी-सम्पुट की तरह खुलते ही नहीं। बड़े तपस्वी हैं। क्यों तिलोत्तमा ! तुम तो बहुत अच्छा नृत्य करती हो। हो न गई तुम्हारे नृत्य की परीक्षा ?

तिलोत्तमा : हमारे नूपुरों में स्वर्गीय संगीत है किन्तु जिसके कानों में सुनने की शक्ति भी नहीं है, वे नूपुर-नाद को क्या समझेंगे ?

सुप्रिया : हमारा चन्द्र-वदन यदि उनके हृदय में मदन की सृष्टि नहीं कर सका तो मैं कहूँगी कि मदन मदन नहीं है, संसार का एक भिक्षुक है।

रंभा : स्त्री के समक्ष तो प्रणय-भिक्षा में प्रत्येक पुरुष भिक्षुक बन जाता है, ये महात्मा भिक्षुक लग कर भी भिक्षुक नहीं है।

तिलोत्तमा : हमारे इन आभूषणों से तो अंधकार में भी प्रकाश हो जाता है किन्तु यहाँ तो अंधकार ही अंधकार है। **(हाथ जोड़कर ऊपर देखते हुए)** हे पार्श्वनाथ ! भिक्षुकों को भिक्षा न देकर उन्हें नेत्रों का प्रकाश दीजिए।

सुप्रिया : मैं तो कहती हूँ ये पुरुष, पुरुष नहीं हैं, सूखे वृक्ष के टूटे हुए काष्ठ-खंड हैं।

तिलोत्तमा : यदि हमारे नृत्य ने इन्हें नहीं जगाया तो मैं आत्महत्या करूँगी। वह रूप रूप ही क्या है जो पुरुष की दृष्टि को अपनी ओर खींच नहीं सकता !

रंभा : और ये आभूषण तो मेरे शरीर पर भारस्वरूप ज्ञात होते हैं और यह दुकूल शूल की भाँति चुभ रहा है।

सुप्रिया : **(वर्धमान की ओर संकेत करते हुए)** ये तो कुछ बोलते ही नहीं। इतनी बातें सुनकर भी ये वाणी के इतने कृपण हैं तो अपने शिष्यों को क्या उपदेश देंगे ?

रंभा : इस तरह ये नहीं मानेंगे। इनसे अपनी व्यथा की बात कही जाय।

तिलोत्तमा : अच्छी बात है। **(हाथ जोड़कर महावीर वर्धमान से)** हे प्रभो ! इस ग्राम में एक अत्यन्त विलासी श्रेष्ठि रहता है, वह हमें वश में करने के लिए भाँति-भाँति के उपाय करता है। उससे हमारी रक्षा कीजिए !

(वर्धमान ध्यानावस्थित हैं।)

रंभा : महात्मा ! आपकी तपस्या पर मैं मोहित हूँ। अपने अंक-पाश में लेकर मेरी विरह-व्यथा दूर कर दीजिए ! **(समीप पहुँच कर झुक जाती है।)**

(वर्धमान ध्यानावस्थित हैं।)

सुप्रिया : सुना है, आप किसी समय राजकुमार थे। क्या राजमहल की सुन्दरियों से हम कम सुन्दर है ? एक बार दृष्टि उठा कर हमें देख तो लीजिए !

(वर्धमान ध्यानावस्थित हैं।)

रंभा : **(दाँत पीसते हुए)** वायु में उड़ने वाली रुई की भाँति इनका सारा वैराग्य मैं अभी उड़ाये देती हूँ। सुप्रिया ! तू तो स्वयं वायु में लता की भाँति झुक जाती है। मैं अब इन्हें अपने बन्धन में बाँधती हूँ। **(अपना उत्तरीय वर्धमान के चारों तरफ लपेटती है।)** देखूँगी ये इससे कैसे मुक्त होते है !

तिलोत्तमा : अरी रंभा! तेरा उत्तरीय तो बाहरी है। मैं अपने अन्तर से इन्हें बाँधती हूँ। तू जानती है, मंत्र-शक्ति महान् होती है। **(वर्धमान को**

परिक्रमा करती है। ओंठों में मंत्र पढ़ती है। ओंठों से हथेली लगा कर उनके ऊपर 'छू' करके साँस छोड़ती है।) देखती हूँ, अब ये कैसे छूटते हैं। मैंने कामदेव का मंत्र जो पढ़ दिया है।

सुप्रिया : तिलोत्तमा ! तू तो कामदेव की उपासिका है। तेरा मंत्र कभी झूठ नहीं हो सकता। अब महात्मा जी छूट नहीं सकते।

रंभा : अरे, छूटने की बात क्या है ! तपस्वी तो बड़े कृपालु होते हैं। ये कैसे हैं कि हमें आलिंगन के लिए उत्सुक देख कर भी इनके हृदय में प्रेम की भावना उदय नहीं होती।

(वर्धमान ध्यानावस्थित हैं।)

सुप्रिया : सुनते हैं, संतों का हृदय तो नवनीत के समान होता है। इसे तो हमारी दशा देख कर पिघलना चाहिए।

तिलोत्तमा : अरे, इनका हृदय नवनीत के समान नहीं है। इनका हृदय तो एक पाषाण-खंड है जो किसी चैत्य की सीढ़ी पर पड़ा रहता है।

(वर्धमान ध्यानावस्थित हैं।)

(सुप्रिया, रंभा और तिलोत्तमा निराश हो जाती हैं।)

सुप्रिया : चलो, बहिनो ! ये वास्तव में संत हैं।

रंभा : कहाँ हम महाराज नन्दिवर्धन की प्रेरणा से इन्हें मोहित करने आई थीं, और कहाँ हम स्वयं इनके वैराग्य पर मोहित हो रही हैं।

तिलोत्तमा : ये सच्चे तपस्वी जान होते हैं। जब महारानी यशोदा का आकर्षण इन्हें राजमहल से बाहर आने से नहीं रोक सका तो हम बेचारियों की बात ही क्या है।

सुप्रिया : अपनी तपस्या से ये सचमुच संसार का कल्याण करेंगे।

रंभा : हम तो पहले ही जानते थे कि बड़े से बड़ा सांसारिक आकर्षण इन्हें तपस्या के मार्ग से नहीं हटा सकेगा। खोलती हूँ अपना बन्धन।
(अपना उत्तरीय महावीर वर्धमान पर से हटा लेती है।)

तिलोत्तमा : मैं भी अपना मंत्र लौटाती हूँ। **(ओठों का स्पन्दन होता है।)**

सुप्रिया : आओ, हम सब ऐसे महान् सन्त का अभिनन्दन करें!
(सब सुन्दरियाँ अपनी-अपनी केश-राशि में गुँथे फूल निकल कर महावीर वर्धमान के चरणों में समर्पित करती हैं। फिर क्रम-क्रम से प्रणाम करके जाती हैं। उनके जाने के कुछ क्षणों बाद महावीर वर्धमान अपने नेत्र खोलते हैं और उठ कर टहलते हैं। टहलते हुए इस चर्या का पाठ करते हैं:)

छंदं निरोहेण उवेई मोक्खं
आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्ते
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं॥

[जैसे अभ्यास सिद्ध कवच धारण करने वाला अश्व युद्ध में विजय प्राप्त करता है उसी भाँति पूर्व काल से अप्रमत्त संयमशाली मुनि शीघ्र ही मोक्ष लाभ करता है।]

(कुछ क्षणों के लिए मंच पर अँधेरा हो जाता है जो समय के अन्तराल का सूचक है। फिर प्रकाश होने पर महावीर वर्धमान टहलते हुए दिखलाई देते हैं। वे यह चर्या पढ़ते हैं:)

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं
कि वहिया मित्तमिच्छसि।
पुरिसा! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ
एवं दुक्खा पमोक्खसि॥

[हे पुरुष ! तू स्वयं ही अपना मित्र है, फिर बाहर किसी अन्य मित्र की खोज क्यों करता है ? तू अपने आपका निग्रह रख, इससे तू समस्त दुःखों से मुक्त हो जायगा ।]

(कुछ क्षण बाद दो ग्रामीण आते हैं ।)

पहला : मुनिराज को प्रणाम !

दूसरा : महामुनि को प्रणाम !

पहला : महाराज ! यह अस्थिक ग्राम है । यहाँ से आप चले जायें तो कुशल है । यहाँ एक बड़ी विपत्ति है ।

दूसरा : विपत्ति तो है, महाराज ! परन्तु उसके लिए अभी समय है । यहाँ एक यक्ष रहता है । वह संध्या समय लौटता है । अभी संध्या में कुछ देर है । किन्तु वह यक्ष इतना क्रूर और भयंकर है कि जो उसके सामने पड़ता है, उसे ही मार डालता है । आप यहाँ से चले जायँ ।

वर्धमान : नहीं, साधक ! मुझे किसी से भय नहीं है । जिसे अपनी आत्मा में विश्वास नहीं है, वही भय का भाजन है । जिसने सत्य को नहीं पहचाना, वही अशान्त है ।

पहला : मुनिराज ! हम लोग तो बहुत अशान्त हैं । हम लोग इसी अस्थिक ग्राम के निवासी हैं । मेरा नाम इन्द्रगोप और मेरे साथी का नाम चुल्लक है । हम सब लोग उस यक्ष से आतंकित हैं । वह इसी ग्राम के चैत्य में रहता है । यहाँ कोई आया नहीं कि उसने उसका वध किया ।

चुल्लक : हाँ, महाराज ! कुछ दिन हुए एक महामुनि यहाँ आये थे, इसी चैत्य में निवास करने । हम लोगों ने उन्हें यहाँ की स्थिति बतलायी । उनसे प्रार्थना की कि आप यहाँ न ठहरें । उन्होंने हमारी बात सुनी नहीं । वे रात में यहीं रुके । प्रातःकाल यहाँ के ग्राम-वासियों ने देखा कि चैत्य के बाहर उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े पड़े हुए हैं ।

वर्धमान : चिन्ता की क्या बात है, साधक ! शरीर तो एक दिन नष्ट होगा ही। कौन जानता है कि जीवन की अवधि कितनी है। इसलिए मन को सदैव शान्त रखना चाहिए।

चुल्लक : महाराज ! मेरा मन ही तो शान्त नहीं रहता और सब कुछ शान्त रहता है। और महाराज ! दासता से भी कष्ट होता है और स्त्री की दासता तो संसार की सबसे बड़ी दासता है।

वर्धमान : स्त्री में राग का केन्द्र है, साधक ! जो घर अच्छी तरह न छाया गया हो उसमें वर्षा का जल प्रवेश कर जाता है। उसी तरह जो व्यक्ति संयमशील नहीं है, उसमें राग प्रवेश कर जाता है और राग की अधिकता से ही दासता की भावना जन्म लेती है।

इन्द्रगोप : महाराज ! संसार में रहते हुए राग की अधिकता को कैसे रोका जा सकता है ?

वर्धमान : अभ्यास से सब सम्भव है। जो समुद्र की तरह स्थिर है, निस्तरंग है, वह अशान्त नहीं होता। कमल जल में ही रहता है किन्तु अपने पत्रों पर वह जल की एक बूंद से भी लिप्त नहीं होता। इसके लिए एकान्त सेवन सुविधाजनक होता है।

चुल्लक : महाराज ! मैं एकान्त सेवन कर ही नहीं पाता। जहाँ जाता हूँ, मेरी स्त्री मुझे घेर लेती है।

वर्धमान : अलंकार धारण किये हुए, सुन्दर वस्त्र पहने, चन्दन चर्चित नारी कामदेव का फेंका हुआ जाल है। और उस जाल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पांच फन्दे हैं। उनमें कभी मत उलझो। उनमें उलझना ही नारी पर आसक्त होना है।

चुल्लक : महाराज ! मैं नारी पर आसक्त नहीं हूँ, नारी मुझ पर आसक्त है। महाराज ! मैं नहीं जानता कि मैं किस तरह व्यवहार करूँ।

वर्धमान : साधक ! न तुम अपनी प्रशंसा करो, न दूसरों की निन्दा। जो कुछ कहो, उस पर आचरण करो। पूर्वजों के जीवन पर किसी प्रकार का आक्षेप न हो। बाहरी दिखावे से कोई श्रेष्ठ नहीं होता, भीतर की शुद्धि से ही श्रेष्ठता प्राप्त होती है। छोटे मन से महान कार्य नहीं होते, जिस तरह छोटे द्वार से हाथी नहीं निकल सकता। सुव्रती बनो, निर्गंध पुष्प की भाँति लता का बोझ मत बनो !

चुल्लक : मुनिराज ! आपके उपदेश सुनकर मेरे मन में वैसी ही शान्ति हो गई जैसे स्त्री के प्रसन्न होने पर घर में शान्ति हो जाती है।

इन्द्रगोप : (**चुल्लक से**) तुम हर बात में अपनी स्त्री क्यों ले आते हो ?

चुल्लक : क्योंकि वह कहती है कि मेरे बिना तुम अधूरे हो।

वर्धमान : प्रकृति ने प्रत्येक वस्तु पूर्ण बनायी है। सूर्य, चन्द्र, भूमि, सरिता, पर्वत, अग्नि, आकाश—इनमें कौन अपूर्ण है ? तुम भी अपूर्ण नहीं हो, साधक ! विकारों से मन भ्रमित होता है, जिससे अपूर्णता का आभास होता है। जिस प्रकार वायु से उठी धूल मेघ से पृथ्वी पर लौट आती है, उसी प्रकार विवेक से भ्रमित मन शान्त हो जाता है।

चुल्लक : अब मेरा मन पूर्ण शान्त हो गया, मुनिराज !

इन्द्रगोप : मेरी साधना का क्या रूप होना चाहिए, मुनिराज !

वर्धमान : तुम श्रावक बनो, साधक ! समस्त संस्कारों से मुक्त हो जाओ। किसी से किसी प्रकार की अपेक्षा न हो, इसलिए किसी से किसी प्रकार का भय न हो। संसार को यथार्थ रूप से देखने पर किसी प्रकार की तृष्णा न हो। आयु के समाप्त होने पर उसी प्रकार सन्तुष्ट रहो जिस प्रकार रोग के अन्त होने पर सुख और शान्ति का अनुभव होता है। धर्म रूपी दर्पण में अपना मुख देखो। इससे मन रज-रहित हो जायगा, दुःख का निरोध होगा और मन शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति विकसित होगा।

चुल्लक : मैं अपनी स्त्री को क्या करूँ, मुनिराज ?

वर्धमान : यदि तुम स्त्री के साथ रहना चाहते हो तो जैसा मैंने पहले कहा, उसी प्रकार रहो जिस प्रकार कमल पानी में रहता है। पानी भिगोना चाहता है परन्तु कमल-पत्र भीगता नहीं। वह पानी की बूंद को मोती की भाँति बना देता है। इसी प्रकार तुम स्त्री पर आसक्त न होते हुए उसे मोती की बूंद की भाँति बना दो। यदि तुम उस पर आसक्त होगे तो स्रोत में उगे हुए नरकुल की भाँति कामदेव तुम्हें बार-बार तोड़ेगा।

चुल्लक : महाराज ! मैं कृतार्थ हुआ। आपने मुझ से यथार्थ बात कह दी। अब मेरा विवेक जाग गया।

वर्धमान : अंधेरी रात में विवेक प्रज्वलित अग्नि के समान है।

(इसी समय बाहर अट्टहास होता है। इन्द्रगोप और चुल्लक कांप उठते हैं।)

चुल्लक : (**डरते हुए**) प्रभु ! अब कुशल नहीं है, शूलपाणि यक्ष आ गया।

वर्धमान : शूलपाणि यक्ष ?

इन्द्रगोप : हां, महाराज ! इसी चैत्य में उसका निवास है। वह यहाँ किसी को ठहरने नहीं देता। जो हठपूर्वक यहाँ ठहरता है, वह अपने प्राणों से हाथ धोता है। आप यहाँ से कहीं अन्य स्थान पर चले जाइए।

चुल्लक : प्रभु ! आज रात आप मेरे घर निवास कीजिए। आपको कोई कष्ट नहीं होगा। मेरी स्त्री को भी आपके उपदेश सुनने का लाभ होगा। मैं तो उसे उपदेश दे नहीं सकता, वह उलटे मुझे ही उपदेश देने लगती है।

इन्द्रगोप : महाराज ! आप मेरे घर विश्राम कीजिए, आपको वहाँ कोई कष्ट नहीं होगा।

वर्धमान : मुझे कहीं किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं है। जितने उपसर्ग होंगे, उन्हें सहन करने की क्षमता मुझ में है।

इन्द्रगोप : किन्तु महाराज ! वह यक्ष आपके प्राण ले लेगा।

वर्धमान : तो क्या हानि है ? यदि मृत्यु आयेगी तो मैं समझूंगा कि मैंने अपने सिर से भार उतार दिया।

(फिर अट्टहास की ध्वनि)

चुल्लक महाराज ! शीघ्र ही इस चैत्य से निकल चलिए।

वर्धमान नहीं, साधक ! नवीन चैत्य चित्त में नवीन चिन्ताएँ उत्पन्न करना है। मैं आज की रात यहीं निवास करूँगा।

इन्द्रगोप : महात्मन् ! रात में यहाँ निवास करना मृत्यु को निमन्त्रण देना है। एक मुनि यहाँ प्राण समर्पित कर चुके हैं।

वर्धमान उन संत को अहंकार और अभिमान होगा। वे तीर पर खड़े होकर धर्म की गहराई को जानने का दंभ भरते होंगे।

इन्द्रगोप महाराज ! वह यक्ष इतना निष्ठुर है कि किसी दंभी और संत में भेद नहीं मानता। उसमें अपार शक्ति है। वह वज्र की तरह व्यक्ति पर गिरता है।

वर्धमान तो गिरे। जिस तरह वृक्षों से फल गिरते हैं, उसी भाँति शरीर टूटने पर मैं भी गिर जाऊँगा।

(पुनः अट्टहास होता है।)

इन्द्रगोप : वह आ गया ! मुझे भी मार डालेगा, महाराज ! मैं जाता हूँ।

चुल्लक : महाराज ! मुझे भी आज्ञा दें। मैं भी यहां नहीं रह सकता। वह मुझे मारे बिना नहीं रहेगा। फिर मेरी पत्नी क्या करेगी ! मैं अपनी पत्नी का एकमात्र पति हूं।

(शीघ्रता से दोनों ही चले जाते हैं। वर्धमान आसन लगा कर ध्यानस्थ होकर बैठ जाते हैं। कुछ ही क्षणों में विकराल वेश बनाये शूलपाणि यक्ष आता है। सिर के बाल बिखरे हुए। उसका मुख लाल और श्वेत रंग से रँगा हुआ है। रक्त वर्ण वस्त्र पहने हुए है। कमर में पीली रस्सी बँधी हुई है। नंगे पैर। वह एक बार फिर ज़ोर से अट्टहास करता है।)

शूलपाणि : अ हह, हह, हह, हह, हह, फिर कोई मेरे चैत्य में प्राण देने आया है। **(अट्टहास करता है।)** अग्नि की लौ में जलने के लिए जैसे पतिंगे आप से आप उड़ कर चले आते हैं, उसी प्रकार मेरे प्रताप की अग्नि में जलने के लिए भोले-भाले व्यक्ति स्वयं ही इधर आ जाते हैं। आओ और अपने प्राण अर्पित करो! जानते नहीं? इस चैत्य पर केवल मेरा अधिकार है, मेरा। **(पुनः अट्टहास। फिर रुक कर ध्यान से देखता हुआ)** अरे, यह डर कर भागा नहीं? इसने अपनी प्राण-रक्षा के लिए कोई याचना नहीं की? **(महावीर वर्धमान के चारों ओर घूमता है।)** अब यह मेरे घेरे में है। छूट कर नहीं जा सकता। **(ज़ोर से)** कौन है तू? भोले मानव! अपना मुँह खोल। बतला कि तुझे अपने जीवन से इतना विराग कैसे हो गया? **(वर्धमान कुछ नहीं बोलते।)** तू मौन रह कर ही मृत्यु के मुख में जाना चाहता है? तू जीवित तो है? **(झुक कर ध्यान से देखता है।)** हूँ! तू जीवित है! **(हँसता है।)** जीवित होकर भी मृतक की भाँति है। फिर आँखें क्यों नहीं खोलता? देख···मानव! देख···तेरे सामने तेरा काल खड़ा हुआ है।

(ज़ोर-ज़ोर से पृथ्वी पर पदाघात करता है। महावीर वर्धमान फिर भी ध्यान में मग्न हैं।)

शूलपाणि : यह विचित्र मानव है! इसकी सारी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हैं। न इसके मुख पर किसी प्रकार का आतंक है और न भय! **(विस्मय से घूमता हुआ)** ऐसा व्यक्ति तो मैंने जीवन भर में नहीं देखा।···इतना साहसी

कि मेरे चैत्य में आकर निर्भीक होकर इस प्रकार बैठा है जैसे मेरे चैत्य की भूमि ही इसका सिंहासन हो। (**सोचता है।**) तो इसे उठा कर मैं इसी पृथ्वी पर पटक दूं। किन्तु इसे पटकने में मेरी शक्ति का अपमान है। कहाँ यह और कहाँ मैं? इसके अंग तो वृक्ष की टूटी हुई टहनियों के समान हैं। मैं दूसरे ही साधन से इसे मारूँगा। मैं अपने मंत्र-बल से इसके ब्रह्मांड के आकाश को खींचता हूँ। (**महावीर वर्धमान के सामने खड़े होकर वायु खींचने का अभिनय करता है।**) इसकी साँसों की वायु खींचता हूँ। (**फिर खींचने का अभिनय करता है।**) इसकी जठराग्नि खींचता हूँ... इसकी आँखों से जल खीचता हूँ... इसके आसन की भूमि खींचता हूँ। (**यक्ष के प्रयत्नों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।**) अरे, इस मानव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा? न तो इसकी साँस ही रुकी और न इसके आसन की भूमि ही हटी। यह तो विचित्र व्यक्ति ज्ञात होता है। इसके समक्ष मेरी शक्ति कुछ काम ही नहीं कर रही है। यह मेरी शक्ति का अपमान है। कोई बात नहीं ...मेरे पास और भी तो भयंकर साधन हैं। कालकूट का कुबेर भयानक सर्प, चंड कौशिक। आ मेरे चंड कौशिक! तू एक ही फूत्कार से इस मानव को मृत्यु-कूप में ढकेल दे। (**भीतर जाकर एक भयानक सर्प लाता है।**) यह रहा चंड कौशिक। मेरे चंड कौशिक! अपने विष की ज्वाला से इस मानव को तू इस तरह से झुलसा दे जैसे दावाग्नि सारे वन को जला डालती है। आज तेरी बड़ी से बड़ी परीक्षा है। तो यह ले। इसके गले में लिपट कर इस तरह कस ले कि इसकी साँस ही रुक जाय और फिर अपने कठोर दंशन से इसे समाप्त कर दे। जा, गले में लिपट जा! (**सर्प को गले में डाल देता है। किन्तु वह सर्प महावीर वर्धमान के गले में फूलों की माला की भाँति झूल जाता है। भिन्न-भिन्न कोणों से यक्ष जाकर वर्धमान के गले में पड़ा साँप देखता है।**) एँ... तो तू भी इसे मारने में असफल हो गया? महान् आश्चर्य! तू तो अपने एक ही दंशन से हरे-भरे वृक्ष

को मूखा काष्ठ बना देता है। यहाँ तू फूलों की माला की तरह झूल गया ! धिक्कार है, चंड कौशिक ! तुझे धिक्कार है ! **(हताश हो कर इधर-उधर टहलता है। सोचते हुए)** यह मानव कोई मंत्र जानता है, अवश्य ही कोई मंत्र जानता है, नहीं तो चंड कौशिक इतना शिथिल नहीं हो सकता था। इसका सारा विष ही समाप्त हो गया। विश्वास-घातक ! चंड कौशिक ! तू हट जा ! तू परीक्षा में असफल हो गया। तूने मेरा सारा विश्वास खो दिया। तू गले से निकल आ ! चल, निकल···! **(महावीर वर्धमान के गले से साँप निकाल कर भूमि पर फेंक देता है।)** यह विचित्र मानव मेरी शक्ति की परीक्षा ले रहा है। किन्तु मैं हार नहीं मानूंगा। मैं शूलपाणि हूँ। शूल से ही इसका मस्तक छेद दूंगा। जाता हूँ, लाता हूँ अपना शूल। **(शीघ्रता से जैसे ही भीतर जाने के लिए बढ़ता है वैसे ही भूमि पर पड़ा हुआ सर्प उसे काट लेता है। वह गहरी दृष्टि से सर्प को देखता है। फिर कराहता हुआ)** ओह ! तूने मुझे ही काट लिया ! अरे चंड कौशिक ! तुझे पालने का क्या तू मुझे ऐसा ही बदला देगा ? मैं पहले तेरा ही सिर इस शूल से छेद दूंगा। **(शूल लेने के लिए चैत्य में प्रवेश करना चाहता है किन्तु लड़खड़ा कर गिरता है।)** ओह ! भयानक विष ! रोम-रोम में यह ज्वाला जल उठी ! मेरा ही साँप और मुझे ही काट ले ! आह ! भयानक विष···भीषण ज्वाला···!! तेरा यह भयानक विष कहाँ गया था जब तू इस मानव के गले में पड़ा था ! **(घुटने टेक कर बैठना चाहता है लेकिन फिर गिर पड़ता है।)** ओह ! सारा शरीर जल रहा है। मैं मरा··· **(जोर से चीख कर)** बचाओ···मुझे ब···चा···ओ। हाय ! हाय ! मैं नहीं जानता था कि इस पापी चंड कौशिक का विष इतना भयानक है ! ओह··· ओह···मैं···मरा··· **(महावीर वर्धमान से)** महामानव ! तुम्हीं मुझे बचा लो। हाय ! तुम्हें अपमानित कर मैंने बड़ा अपराध किया है। मुझे क्षमा करो ! मुझे बचा लो, महा संत ! मुझे बचा लो···

मैं मरा···मैं मरा ! महा संत ! इस भयानक विष की ज्वाला दूर कर दो ! तुम कर सकते हो। संसार की सभी वस्तुएँ तुम्हारे वश में हैं। मैं मरने जा रहा हूँ, महा संत ! मुझे बचालो !

(वर्धमान आँखें खोल कर शूलपाणि को देखते हैं। वे उठकर उसके समीप जाते हैं।)

वर्धमान : शूलपाणि ! सर्प ने तुम्हें काट लिया ? चिन्ता मत करो। मैं तुम्हें मरने नहीं दूंगा। मैंने यहाँ आते ही देखा कि तुम्हारे चैत्य के पास ही सर्प-विष दूर करने की जड़ी है। आयुर्वेद जानने के कारण मैं वह जड़ी पहचानता हूँ। मैं उस जड़ी को अभी विष-दंत पर लगा देता हूँ।

शूलपाणि : महात्मन् ! वह जड़ी शीघ्र ही लगा दीजिए। मैं जन्म भर आपकी सेवा करूँगा।

वर्धमान : मुझे किसी की सेवा की आवश्यकता नहीं है। मैं जड़ी अभी लगा देता हूँ।

(महावीर वर्धमान शीघ्रता से एक कोने से जड़ी उखाड़ कर लाते हैं, विष-दंत पर लगाते हैं और शूलपाणि को देते हैं।)

शूलपाणि ! इस जड़ी को तुम सूंघ भी लो। गहराई से सूंघो !

(शूलपाणि जड़ी को लेकर गहराई से बार-बार सूंघता है।)

वर्धमान : अब विष का प्रभाव कम हो रहा होगा।

शूलपाणि : हाँ, महात्मन् ! मैं शान्ति का अनुभव करने लगा हूँ। विष का प्रकोप कम होता जा रहा है। कम···होता···जा···रहा···है।

(इन्द्रगोप और चुल्लक का शीघ्रता से प्रवेश)

इन्द्रगोप : जय हो ! जय हो महा सन्त की ! हम लोगों ने शूलपाणि के कराहने की ध्वनि सुनी तो समझ गये कि महा सन्त ने उसे अच्छा दंड दिया।

चुल्लक : मैं भी महा सन्त की जय बोलता हूँ और अपनी पत्नी की तरफ से भी जय बोलता हूँ।

शूलपाणि : मैं भी···महा···सन्त···की जय···बोलता हूँ। मैं तो मर गया था। मेरे ही साँप चंड कौशिक ने मुझे डस लिया। यदि ये महात्मा यहाँ न होते तो मैं तो अभी तक मर गया होता। मेरे ही चैत्य में सर्प-विष को दूर करने की जड़ी! मैं उसे नहीं पहचान पाया। और इन महात्मा ने उस जड़ी को उखाड़ कर काटे हुए स्थान पर लगा दिया और मेरे शरीर से सर्प-विष दूर हो गया। हाय! वह चंड कौशिक काट कर न जाने कहाँ चला गया।

चुल्लक : हम लोग तो समझे थे कि तुम मर गये। मेरी पत्नी ने कहा था कि जाकर शूलपाणि का अंतिम संस्कार कर आओ।

शूलपाणि : सचमुच ही वह शूलपाणि मर गया जिसने इतने बड़े सन्त का अपमान किया। यह तो उसका पुनर्जन्म है।

इन्द्रगोप : धन्य हैं ये महात्मा जो मान-अपमान से इतने परे हैं कि तुमने इनका घोर अपमान किया और इन्होंने तुम्हें जीवन-दान दिया!

शूलपाणि : धन्य धन्य हो! महात्मा!

चुल्लक : अब धन्य धन्य कहने से क्या होता है! पहले तो तुमने इतने सन्त महात्माओं को मारा जिनकी गिनती नहीं है। अब धन्य धन्य कहते हो! अरे, तुम्हारा चंड कौशिक भी तुम्हारी उद्दंडता से क्रुद्ध हो गया। वह ऐसे सन्त का अपमान नहीं सहन कर सका और उसने तुम्हें डस लिया।

शूलपाणि : (**खड़े होकर**) अरे, अब तो मैं बिल्कुल अच्छा हो गया। लगता भी नहीं है कि साँप ने मुझे काटा था। (**महावीर वर्धमान के चरणों पर गिरता है।**)

इन्द्रगोप : मैं तो पहले ही जानता था कि ये सामान्य सन्त नहीं हैं।

चुल्लक : अरे, सामान्य सन्त होते तो क्या शूलपाणि के क्रोध से बचते? मेरी पत्नी का क्रोध तुमसे कम नहीं है, शूलपाणि! किन्तु मैं भी बाल-बाल बचता ही आया हूँ।

शूलपाणि : मैंने महा सन्त का प्रभाव नहीं जाना। इनसे कुवाक्य कहे, इनका अपमान किया किन्तु ये मौन बैठे रहे। इन्होंने किसी प्रकार का उत्तर नहीं दिया। किन्तु जब सर्प ने मुझे काटा तो ये मेरी रक्षा के लिए आ गये। महा सन्त! तुम्हारे दर्शन पाकर मैं धन्य हो गया! जय हो! जय हो महा सन्त की! अब सर्प का विष न जाने कहाँ चला गया!

वर्धमान : संसार का विष सर्प-विष से अधिक भयानक है, शूलपाणि! उससे बचने का प्रयत्न करो।

शूलपाणि : अवश्य करूँगा, महात्मन्! मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। अथवा बनाने से क्या! मैं स्वयं शिष्य हो गया! मैंने अब तक जो दुष्कर्म किये हैं उनका प्रायश्चित्त करूँगा।

वर्धमान : प्रायश्चित्त यही हो कि आज से तुम समस्त कुकर्म छोड़ दो। किसी की हत्या न करो। क्रोध न करो, मानापमान से ऊपर उठो। जनता की सेवा करो। कभी किसी प्रकार की हिंसा न करो। अहिंसा ही तप है, उसका अनुसरण करते हुए लोक-कल्याण करो! निर्भय होकर सत्य का उसी प्रकार नाद करो जिस भाँति सिंह अपनी गिरि-गुहा में नाद करता है।

शूलपाणि : आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करूँगा, महात्मन्!

चुल्लक : पालन न करोगे तो क्या करोगे शिष्य जी! अब महात्माओं से सम्हल कर बात करना। इस बार तो महात्मा जी की कृपा से बच

गये। आगे उलटी-सीधी बातें कीं तो एक चींटी के काटने पर भी नहीं बचोगे।

इन्द्रगोप : इन जैसे महात्माओं की बात ही अलग है। (**महावीर वर्धमान से**) महात्मन्! मुझे भी अपना शिष्य बना लीजिए। हम सब जान गये हैं कि आप महावीर वर्धमान हैं।

चुल्लक : मुझे भी...और...मेरी उसको...अर्थात् मेरी पत्नी को भी।

वर्धमान : श्रद्धा, स्मृति और अहिंसा का अभ्यास कर इन्द्रियों का दमन करो और पाप-मुक्त हो जाओ!

शूलपाणि : ऐसा ही होगा, महात्मन्!

वर्धमान : अनित्य का, अनासक्ति का, अभ्यास करना प्रत्येक श्रमण के लिए आवश्यक है।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायामज्जव भावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥

[शान्ति से क्रोध को जीते, विनम्रता से अभिमान को जीते, सरलता से माया को जीते और सन्तोष से लोभ को जीते।]

सब : (**सम्मिलित स्वर से**) तीर्थंकर महावीर वर्धमान की जय! जय! जय!

[धीरे-धीरे परदा गिरता है।]